रक्षा करते रहते हैं। [(ग) *'मोह अपारा'*—यह कि अपने इष्टदेवसे विवाहके निमित्त सुन्दरता माँगी, भगवान्‌के निगूढ़ वचन भी न समझे, रुद्रगणोंकी अटपट वाणी उनके कूटको भी न समझे, भगवान्‌को दुर्वचन कहे, शाप दिया, स्त्रीके लिये अत्यन्त विकल हो गये। (रा० शं० श०) पुन: *'अपारा'* का भाव कि वे स्वयं अपने पुरुषार्थसे उसके पार न हो सके, जब भगवान्‌की कृपासे वे उनकी शरण गये तभी मोह दूर हुआ। यथा—*'जब हरि माया दूरि निवारी'* इत्यादि। (पं० रा० व० श०) (प्र० सं०)] (घ) मोह=आवरक ज्ञान। यथा—*'मोह न अंध कीन्ह केहि केही।'* यह विवेक-विलोचनको बेकाम कर देता है। गीताका वाक्य **'सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते। क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः॥ स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।'** नारदमोहमें चरितार्थ देखिये। राजकुमारी विश्वमोहिनीका हाथ देखकर मोहित हुए यह **'सङ्गात्संजायते कामः'** हो पड़ा। अब क्या था, *'को अस काम नचाव न जेही'* ब्याहकी इच्छा हुई, जिनसे कामके जीतनेकी शेखी बघारी थी उन्हींसे स्त्रीको मोहित करनेके लिये सुन्दर रूपकी प्रार्थना करने लगे। भगवान् क्या कह रहे हैं। यह नहीं समझ रहे हैं। राजकुमारी न मिली, दूसरी ले गया। अब **'कामात् क्रोधोऽभि'** का नम्बर आया। रुद्रोंके कहनेपर पानीमें मुँह देखा। रूप देख क्रोध आया। रुद्रगणोंको शाप दिया। फिर मुँह देखा तो अपना ही रूप देखा, तथापि क्रोध भरे विष्णुभगवान्‌को शाप देने चले। वे राजकुमारीसहित राहमें ही मिल गये। क्रोधसे सम्मोह हुआ, ज्ञान जाता रहा और विभ्रम हुआ। अपने इष्टदेवको बुरा-भला कहने लगे। बुद्धि नष्ट हो गयी। इष्टको शाप दे डाला।—अब **'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'** शेष रहा सो भगवान्‌की प्रतिज्ञा है—**'न मे भक्तः प्रणश्यति।'** भगवान्‌ने माया हटा ली। अपने दुर्वचन कहनेके प्रायश्चित्तके ब्याजसे शिवजीका महत्त्व बतलाया और भक्तके वचनको सत्य करनेके लिये अवतार लिया।

☞ *'नारदमोह अपारा'* प्रसङ्गसे दिखाया कि तनिक-सा प्रमाद होनेसे प्राणी उच्च-से-उच्च पदसे गिर जाता है। अत: भक्तको बहुत सावधान रहना चाहिये। उसके प्रमादसे भगवान्‌को कष्ट उठाना पड़ता है और त्रैलोक्यमें अमङ्गल उपस्थित हो जाता है।

रा० शं० श०, र० प्र०—*'रावन अवतारा'* इति। अर्थात् जय-विजय, जलंधर, हरगण और भानुप्रतापका रावण होना। रावणके सम्बन्धमें *'कहेसि'* और प्रभुके अवतारके सम्बन्धमें *'गाई'* क्रिया दी। *कहेसि* अर्थात् संक्षेपसे कहा। *गाई* अर्थात् विस्तारसे कहा। अथवा गान किया। इसी तरह *'तब तब कथा मुनीसन्ह गाई'* कहा है।

वि० त्रि०—रावण-जन्मका समय-निर्णय। समुद्र-मन्थन छठे मन्वन्तर चाक्षुषमें हुआ। उस समय बलि राजा थे। रावणका उस समय कोई पता नहीं चलता। अत: स्पष्ट है कि रावण सातवें वैवस्वत मन्वन्तरमें हुए। उसमें भी श्रीरामजीके तीस पीढ़ी पहले महाराज अनरण्यके समयमें रावणका दिग्विजय हुआ था। पर इस बातका पता नहीं चलता कि महाराज अनरण्य किस चतुर्युगीमें हुए थे। इतना पता चलता है कि कार्तवीर्यके वधके लिये परशुरामावतार उन्नीसवीं चतुर्युगीमें होना और चौबीसवीं चतुर्युगीमें श्रीरामावतारद्वारा रावण-वध निश्चित है।

नोट—रावणके लिये भी अवतार शब्दका प्रयोग किया गया है। त्रिदेव भी उसका कुछ बिगाड़ न सकते थे। ब्रह्मा और शिवजी तो नित्य उसके यहाँ पुजाने आते थे। इन्द्रादि देवता तो उसके नामसे काँपते थे। वह सारे जगत्‌को रुलानेवाला था। उसका नाम ही रावण था—**'रावयतीति रावणः।'** रावण नाम होनेके कारण पूर्व काण्डोंमें दिये जा चुके हैं। जब-जब श्रीरामजी लीला करना चाहते हैं तब-तब उनके साथ रण-क्रीड़ा करनेके लिये परम प्रतापी जीव ही आकर रावण होते हैं, जो सारी ब्रह्मसृष्टिको अपने अधीन कर सकनेका सामर्थ्य रखते हैं। यथा—***'ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दसमुख दसवर्ती नरनारी॥ आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहि आइ नित चरन बिनीता॥'*** (१। १८२) रावण स्वयं कहता है ***'रावन नाम जगत जसु जाना। लोकप जाके बंदीखाना॥'*** (६। ८९। ४) ये वचन उसने श्रीरामजीसे ही कहे हैं। वाल्मीकिजीने भी उसके नाममें 'महात्मा' शब्दका प्रयोग किया है। वस्तुत: वे परम उच्चकोटिकी महान् आत्मा ही होती हैं जो उस पदसे उतरकर पृथ्वीपर भगवान्‌की क्रीड़ाकी इच्छाकी पूर्तिके लिये आती हैं। वे जीव संसारमें नहीं पड़ते, उनकी मुक्ति होती है। अत: रावणके जन्मके लिये 'अवतार' शब्दका प्रयोग हुआ।

श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि जिस भाँति रामावतारमें कुछ बातें बँधी हुई हैं। जैसे कि रघुकुलमें ही

जन्म, दशरथ-कौसल्या ही पिता-माता इत्यादि; वैसे ही रावणके लिये बातें बँधी हुई हैं—पुलस्त्यकुलमें जन्म इत्यादि। इसलिये उसके भी जन्मको अवतार होना कहा।

नोट—*'प्रभु अवतार'* इति। रावणावतार कहकर रामावतार कहनेमें *'प्रभु'* शब्द देनेका भाव कि *'प्रभु'* का अर्थ है स्वामी और समर्थ। इस शब्दको देकर जनाया कि ब्रह्मादिक कोई भी रावणवध करनेमें समर्थ न था। ब्रह्माजी भी यह सोचकर कि *'मोर कछु न बसाई'* पृथ्वीको समझाते हैं कि *'जा करि तैं दासी सो अबिनासी हमरेउ तोर सहाई।' 'जानत जन की पीर प्रभु भंजिहि दारुन बिपति।'* (१। १८४) इस प्रसङ्गभरमें *'प्रभु'* शब्दका प्रयोग हुआ है। यथा—*'कहँ पाइअ प्रभु करिअ पुकारा।', 'कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई', 'प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीती', 'कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं', 'प्रेम तें प्रभु प्रगटै जिमि आगी'*—ब्रह्मा, शिव तथा सारा देवसमाज *'प्रभु'* हीकी खोजकी चर्चा करता है। और अवतार भी *'प्रभु'* का ही हुआ, यथा—*'जग निवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक बिश्राम।'* (१। १९१) माताके सामने भी ऐश्वर्यरूपसे प्रकट हुए, माताकी विनतीपर कहा है—*'उपजा जब ग्याना प्रभु मुसुकाना।'* इस रावणसे अत्यन्त पीड़ित होनेपर पृथ्वीकी व्याकुल पुकारसे लेकर भगवान्के प्रकट होनेतक सामर्थ्यसूचक *'प्रभु'* शब्दका प्रयोग होनेसे *'प्रभु अवतार'* कहा गया।

पुनः *'प्रभु अवतार'* से जनाया कि व्यापक अव्यक्त ब्रह्म ही अवतरित हुए। यथा—*'भगत बछल प्रभु कृपा निधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥'* (१। १४६), *'उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥ अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहिं चिंतहिं परमारथबादी॥ नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥ संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥ ऐसेउ प्रभु सेवकबस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई॥'* (१। १४४) इस प्रसङ्गमें भी जबतक पुत्र होनेका वरदान नहीं दिया है तबतक *'प्रभु'* शब्दकी भरमार है। यथा—*'सिर परसे प्रभु निज कर कंजा', 'सुनि प्रभु बचन जोरि जुग पानी', 'प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई', 'कहा जो प्रभु प्रवान पुनि सोई', 'सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहिं कृपा करि देहु।'* (१। १५०)

वि० त्रि०—*'प्रभु'* का स्वरूप क्या है, इसे वर्णन करते हुए श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—*'ब्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँदरासी॥ अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी.........नाम निरूपन नाम जतन ते। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते॥'* (१। २३) ब्रह्मदेवजीने नामनिरूपन नाम यत्न किया अर्थात् स्तुति की, तुरंत आकाशवाणी हुई। प्रभुके यहाँ सुनवायी हुई।—*'जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेषा॥'* इत्यादि।

२ *'अवतार'* इति। अव्यक्तरूपसे व्यक्तरूपमें आना ही अवतार है। भगवान्ने जो गीतामें कहा है **'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'**, इसी दिव्य जन्म-कर्मको अवतार कहते हैं। जन्मका भाव दिखलाते हैं पर वस्तुतः जन्म नहीं ग्रहण करते। यथा—*'जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ। सोइ सोइ भाव दिखावै आपुन होइ न सोइ॥'*

३ *'गाई'*—प्रभु अवतार-वर्णनमें ऐसे मग्न हो गये कि गाने लगे। रामचरित कहनेमें तीन स्थल ऐसे हैं जहाँ भुशुण्डिजी गान करने लगे। एक तो यहाँ, दूसरे *'गीध मैत्री पुनि तेहि गाई'* और तीसरे *'जेहि बिधि राम नगर निज आए। बायस बिसद चरित सब गाए॥'*

जिस समय चारों ओर सोहिलो (सोहर) हो रहा था उस समयमें भुशुण्डिजीका गान करना प्राप्त ही था। गोस्वामीजीने भी इस अवसरपर गीतावलीमें खूब गान किया है।

४ *'पुनि सिसु चरित.........'* इति। यद्यपि शिशु और बाल शब्द एक ही अर्थमें प्रायः व्यवहृत होते हैं। यथा—*'सब सिसु एहि मिस प्रेम बस परसि मनोहर गात। तन पुलकहिं अति हरष हिय देखि देखि दोउ भ्रात॥'* (१। २२४), *'सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुर भूपा।'* (१। १९२) तथापि यहाँ तो स्पष्ट ही शैशवावस्था और बाल्यावस्थामें भेद विवक्षित है। मानसमें *'सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी।'* (१। १९३। १) से *'बिसमयवंति देखि महतारी। भए बहुरि सिसुरूप खरारी॥'* (१। २०२। ६) तक शिशु शब्दका प्रयोग है। इसके बाद बाल शब्दका प्रयोग है, शिशु शब्द नहीं आया है। इस बीचमें प्रभुके जानुपाणि विचरणतकका प्रसङ्ग आता है। इससे मालूम होता है कि **'जानुपाणि विचरण'** तक शिशुचरित है। बालकके असमर्थावस्थामें ही शैशवका प्रयोग होता है।

५ *'कहेसि मन लाई'*—भाव कि यद्यपि शैशव असमर्थावस्था है तथापि इसके भीतर वह शैशवाभाव है जिससे कि प्रभु महाप्रलयमें वटपत्रपर शयन करते हैं जिसका रूपक देते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं—*'सिय सनेह बट बाढ़त जोहा। ता पर राम प्रेम सिसु सोहा॥ चिरजीवी मुनि ग्यान बिकल जनु। बूड़त लहेउ बाल अवलंबनु॥'* दिव्य सामर्थ्यका प्रकाश जैसा इस अवस्थामें दिखलाया है वैसा किसी और अवस्थामें पाया नहीं जाता। इसी अवस्थामें *'देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।.........'* (१। २०१) जन्मसमय *'निज आयुध भुजचारी'* रूप दिखाकर सुख दिया और दूसरी बार विश्वरूप दिखाकर विवेक दिया। सुख और विवेक दो वरदान पूर्व जन्ममें माँगे थे, वे दोनों इस शैशवावस्थामें दिये। और, भुशुण्डिजीको भी इसी अवस्थामें विश्वरूप अपने भीतर दिखाया और फिर भक्तिका वरदान दिया। अतः *'सिसु चरित कहेसि मन लाई।'* पुनः शिशुचरितके अन्तर्गत ही नामकरण हुआ। गुरुने उनका नाम 'राम' रखा जो भक्तोंका प्राण है। अतः कहते हैं *'पुनि सिसु चरित कहेसि.........'*

दो०—बाल चरित कहि बिबिध बिधि मन महुँ परम उछाह।
रिषि आगवनु कहेसि पुनि श्रीरघुबीर बिबाह॥ ६४॥

अर्थ—अनेक प्रकारकी बाल-लीलाएँ अनेक प्रकारसे मनमें परम उत्साहसे भरे हुए कहकर विश्वामित्रजीका आना कहा फिर श्रीरघुवीर-विवाह कहा॥ ६४॥

नोट—१ पहले कहा कि *'तब सिसु चरित कहेसि'* और अब कहते हैं कि *'बालचरित कहि.........'* इससे जनाया कि ५ वर्षकी अवस्थाके पूर्वके चरित *'सिसु चरित'* हैं। ☞बालचरितमें वे चरित आ गये जो ५ वर्षकी अवस्थासे १४ वर्षकी अवस्थातक हुए। इन चरित्रोंका विशेष वर्णन सत्योपाख्यानमें है, ऐसा विस्तृत माधुर्यका वर्णन अन्यत्र देखनेमें नहीं आया। *'बिबिध बिधि'* से वे सब चरित यहाँ जना दिये हैं। गीतावलीमें भी बालचरित विस्तारसे है। दोनों ग्रन्थ पढ़ने योग्य हैं।

२—*'मन महुँ परम उछाह'* का भाव कि उत्साहपूर्वक ये सब चरित कहे और अबतक परमोत्साह है, इतने कथनसे तृप्ति नहीं होती। इष्टका चरित है इसीसे उत्साह आद्यन्त दिखाया है—*'प्रथमहि अति अनुराग'* एवं *'भएउ तासु मन परम उछाहा'* आदिमें और यहाँ *'मन महुँ परम उछाह'* बालचरितके अन्तमें। बालक राम आपके इष्ट हैं और इनके बहुतसे चरित आँखों देखे हैं; अतः *'बिबिध बिधि'* और परमोत्साहसे कहे। अन्य चरित अनुभवके हैं या सुने हुए हैं।

वि० त्रि०—*'बाल चरित.........'* इति। (क) बाल्यावस्थामें संसारका लेप नहीं रहता, आनन्दकी मात्रा अधिक रहती है, केवल क्रीड़ा-विहारमें ही प्रवृत्ति रहती है। इसीसे बालरूपका सम्पूर्ण जगत्‌में आदर है, उसे ईश्वररूप मानते हैं। इस समयका चरित भी आनन्दमय ही है। शङ्करजी इसी रूपको इष्ट मानते हैं और भुशुण्डिजी तो पाँच वर्षतकके चरित्रका ही दर्शन करते हैं बालचरित खेल-कूदका अति आनन्दमय है, इसीसे उसे 'सरल' कहा गया है। यथा—*'बालचरित अति सरल सुहाए।'* यद्यपि भुशुण्डिजीने चरित तो सभी अवस्थाके कहे हैं, फिर भी 'चरित' शब्द यहाँ केवल शिशु और बालशब्दके साथ ही दिया है। अन्य प्रसङ्गोंमें चरित शब्द नहीं दिया; क्योंकि इनको तो आचरित होते हुए उन्होंने स्वयं देखा है, शेष सुना हुआ कहते हैं। (ख) *'बिबिध बिधि'*—अपने इष्टदेव बालक रामका चरित है, अतः अपनेको अत्यन्त प्रिय है। प्रिय वस्तुका वर्णन अनेक विधिसे किया ही जाता है। दूसरे बालक्रीड़ाकी कोई एक विधि तो है ही नहीं, अनेक विधिसे होती है। अतः *'बिबिध बिधि'* से वर्णन करना कहा।

ग्रन्थकारने कौमार अवस्था बाल्यावस्थाके भीतर ही मान लिया; अतः उसके भीतर यज्ञोपवीतके उपरान्त *'गुर गृह गए पढ़न रघुराई'* भी आ गया। *'अल्पकाल बिद्या सब पाई'* से विद्यास्नात कहा। तीव्रबुद्धिवालोंके लिये ब्रह्मचर्यके कालका नियम नहीं है। विद्या समाप्त होते ही समावर्तन कर दिया जाता है। उनको विद्यास्नात कहते हैं। मध्यकोटिकी बुद्धिवालोंकी विद्या ब्रह्मचर्यकालतक समाप्त होती है, उन्हें विद्याव्रतस्नात कहते हैं। और मन्दबुद्धिवालोंका समावर्तन ब्रह्मचर्यकाल समाप्त होनेपर कर दिया जाता है। वे व्रतस्नात कहलाते हैं। अतः विद्यास्नात हुए श्रीरामजीकी कुमारावस्था नहीं बीती। वे उसके पश्चात् अवस्थानुकूल *'खेलहिं खेल सकल

नृप लीला' इत्यादि अनेक प्रकारके चरित करते रहे। ये बालचरितके अन्तर्गत हैं और विविध प्रकारके हैं।

नोट—३ ***'रिषि आगमन'*** इति। यहाँ ऋषिका नाम नहीं दिया, क्योंकि पूर्व पार्वतीजीसे सब कथा कह आये हैं। फिर आगे साथ-ही-साथ ***'श्रीरघुबीर बिबाह'*** शब्द भी हैं, इससे ये ऋषि विश्वामित्र ही हैं इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता। बालचरितके पश्चात् ऋषि-आगमन कहनेसे दोनों बातें जना दीं कि कौन ऋषि आये और कहाँ आये। श्रीदशरथजीके यहाँ ये चरित हो रहे थे, अतः वहीं आये।

वि० त्रि०—मन्त्रद्रष्टाको ऋषि कहते हैं। गायत्री मन्त्रके द्रष्टा ऋषियोंमें विश्वामित्र ऋषि प्रधान हैं—**'गायत्र्या विश्वामित्र ऋषिः।'** अतः नाम न दिया। ऋषि शब्द देकर यह भी जना दिया कि इनका आगमन मङ्गलके लिये ही हुआ। यथा—***'धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कहँ इन्ह कहँ अति कल्यान।'*** ऋषियोंका चरित प्राणियोंके सुखके लिये ही होता है और देवताओंके चरित सुख और दुःख दोनोंके लिये होता है। यथा—**'भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च। सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम्॥'** पुनः, यह ऋषिका आगमन है, इस कथनसे सूचित किया कि उनका आगमन जिस लिये हुआ, (***करि बिनती आनौं दोउ भाई***), वह मोघ नहीं हो सकता, नहीं तो अपने १५ वर्षके बच्चोंको राक्षसोंसे लड़नेको कौन देता है?

नोट—४ ***'श्रीरघुबीर'*** का भाव कि विवाहमें त्रैलोक्यके मानी सुभटोंकी तथा परशुरामकी भी 'श्री' आपके सामने हत हुई थी, यथा—***'श्रीहत भए भूप धनु टूटे' 'सब कै सकति संभु धनु भानी' 'परसुराम मन बिसमय भयऊ।'*** और आपने ***'त्रिभुवन जय समेत बैदेही'*** को व्याहा था—***'बिस्व बिजय जसु जानकि पाई।'*** त्रैलोक्यमें एक आपकी श्री रही। ***'श्रीरघुबीर'*** शब्द धनुषयज्ञके पश्चात् और विवाहके पूर्व भी आया है। यथा—***'सभय बिलोके लोग सब जानि जानकी भीरु। हृदय न हरष बिषाद कछु बोले श्रीरघुबीर॥'*** (१। २७०) अन्यत्र भी आया है। यथा—***'पाणि चाप सर कटि तूणीरं। नौमि निरंतर श्रीरघुबीरं॥'*** (३। ११। ४) (सुतीक्ष्णस्तुति), गीतावलीमें भी बाहु-पराक्रमके वर्णनमें यह शब्द आया है। यथा—***'सुमिरत श्रीरघुबीर की बाहैं।.........भव धनु दलि जानकी बिबाही भए बिहाल नृपाल त्रपा हैं॥ परसुपानि जे किये महामुनि जे चितए कबहुँ न कृपा हैं।'*** (७। १३) पुनः बालकाण्डकी फलश्रुतिमें कहा है ***'सिय रघुबीर बिबाह जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।'*** इसके अनुसार यहाँ ***'श्रीरघुबीर'*** से ***'सीय रघुबीर'*** अर्थ भी गृहीत है। 'श्री' सीताजीका एक नाम है, यह पूर्व कई बार बताया गया है।

वि० त्रि०—'श्री' से यह भी जनाया कि यह साक्षात् लक्ष्मीका विवाह है, अतः यहाँकी रत्नमण्डप-रचना, सम्पदा, सिद्धियोंद्वारा विभव-भेद आदि सभी बातें आश्चर्यजनक हैं। पुनः 'श्री' शब्दसे सीताजीकी शोभा और शीतल तथा भगवान्‌से पुरातन प्रीति कही।

पं० यहाँ विवाहके अभ्यन्तर परशुराम-संवाद भी समझना।

बहुरि राम अभिषेक प्रसंगा। पुनि नृप बचन राजरस भंगा॥ १॥
पुरबासिन्ह कर बिरह बिषादा। कहेसि राम लछिमन संबादा॥ २॥
बिपिन गवन केवट अनुरागा। सुरसरि उतरि निवास प्रयागा॥ ३॥
बालमीक प्रभु मिलन बखाना। चित्रकूट जिमि बसे भगवाना॥ ४॥

अर्थ—फिर श्रीरामराज्याभिषेकका प्रसङ्ग कहा तदनन्तर राजा दशरथजीका वचनबद्ध होना (वचन हारना) और राज्यरस (राज्याभिषेक होनेके उपलक्ष और सम्बन्धमें जो आनन्द नगरमें हो रहा था) का नाश, पुरवासियोंका विरह-दुःख और श्रीराम-लक्ष्मण-संवाद कहा॥ १-२॥ वनगमन, केवटका प्रेम, गङ्गापार उतरकर प्रयागमें निवास; वाल्मीकिजीसे प्रभुकी भेंट और जैसे भगवान् चित्रकूटमें बसे वह सब विस्तारसे कहा॥ ३-४॥

☞ ***'रामचरितसर कहेसि'*** से ***'श्रीरघुबीर बिबाह'*** तक से बालकाण्डकी सब कथा कहना जनाया।

नोट—जैसे संकोचरस, रणरस, प्रेमरस इत्यादि कहे, वैसे ही 'राजरस'।

नोट—***'बहुरि राम अभिषेक.........'*** इति। (क) ***'बहुरि'*** से नये प्रसङ्गका आरम्भ जनाया। 'राम-अभिषेक प्रसंगों' से अयोध्याकाण्डके प्रारम्भसे ***'सकल कहहिं कब होइहि काली।'*** (२। ११। ६) तकका

सब चरित कह दिया गया। (ख) *'पुनि'* का भाव कि इतना होनेके बाद दृश्यने पलटा खाया। (वि० त्रि०)। (ग) त्रिपाठीजी लिखते हैं कि अग्निपुराणमें लिखा है कि रामजीने बचपनमें उसकी (मंथराकी) टाँग पकड़कर घसीटा था **'पादौ गृहीत्वा रामेण कर्षिता सापराधतः। तेन वैरेण सा राम वनवासं च काङ्क्षति॥'**, इसे वह भूली नहीं; अतः अभिषेक सुनकर उसने कैकेयीको बहकाया। (मा० पी० में इसका कारण अ० दोहा १२ में दूसरा ही दिया है। श्रीरामजीने उसका पैर घसीटा, यह मानसके रामसे नहीं हो सकता)। यद्यपि कैकेयी राज्यशुल्का थी, यथा—**'पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं समुद्वहन्। मातामहे समाश्रौषीद्राज्यशुल्कमनुत्तमम्॥'** इस प्रतिज्ञासे भरतजीका राजा होना प्राप्त था, पर रामको वनवास न हो सकता था और भरतराज्यके दृढ़ीकरणके लिये वनवासका होना आवश्यक था। अतएव देवासुरसंग्रामवाले दो वरदानोंका सहारा लिया गया। (घ) *'नृप बचन'* में भाव यह है कि यद्यपि राजाने अपने मुखसे 'तथास्तु' नहीं कहा और न स्वयं रामजीसे वन जानेको कहा, फिर भी श्रीरामजी *'नृप बचन'* का भी उल्लङ्घन नहीं करेंगे। *'रथ चढ़ाइ दिखराइ बन फिरेहु गए दिन चारि'* इस वचनको *'प्रिय प्रेम प्रसाद'* समझते थे। (ङ) *'राजरस'*-मंगल उपस्थित होनेपर बाजा बजना, सर्वत्र धूमधाम-आनन्द मनाया जाना ही रामजीके राज्यका आनन्द है। यथा—*'सुनत राम अभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा॥'* इत्यादि। तथा *'तेहि निसि नीद परी नहिं काहू। राम दरस लालसा उछाहू॥'* (२। ३७। ८) नृपवचनका समाचार मिलते ही रसभङ्ग हो गया—*'नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी। छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी॥'* (२। ४६। ६) (वि० त्रि०)। [*'नृपबचन राजरस भंगा'* एक साथ कहकर जनाया कि नृपवचनसे ही राजरसका भङ्ग हुआ (पं० रा० व० श०)। *'रस भङ्ग'* का भाव कि आनन्दरसकी लड़ी टूट गयी। (रा० प०)] *'राजरस भंगा'* अर्थात् वात्सल्य, सख्य, दास्य, शृङ्गारादि रसोंका जो स्थायी प्रेमानन्द था उसको करुण-रसने नाश कर दिया, सबमें शोक स्थायी व्याप गया। (वै०)।

रा० शं०—*'बहुरि राम अभिषेक'* से *'राम लछिमन संवाद'* तक चार प्रसङ्गोंमें एक दफा *'कहेसि'* शब्द आया। भाव यह कि इसको जल्दीमें कहा। बिपिनगमनमें कहनेका पद ही नहीं रखा, अर्थात् इसको जहाँतक जल्दी कह सके कहा। इनका विस्तृत वर्णन तो कठोर हृदय ही कर सकता है। *'केवट अनुराग'* *'निवास प्रयाग'* और *'बाल्मीकि प्रभु मिलन'* के साथ *'बखाना'* पद दिया क्योंकि ये प्रसङ्ग भक्ति और प्रेमसे पूर्ण हैं। *'बखाना'* देहरीदीपक है।

वि० त्रि०—१ *'पुरबासिन्ह कर बिरह बिषादा'* इति। यहाँ पुरवासीसे केवल प्रजा अभिप्रेत है। श्रीभुशुण्डिजी सगे-सम्बन्धियोंका विरह-विषाद वर्णन न करके पुरवासियोंमात्रका विरह-विषाद वर्णन करते हैं। इसीसे जाना जाता है कि सगे-सम्बन्धियोंका विरह-विषाद वर्णनातीत है। यथा—*'बिरह बिषाद बरनि नहिं जाई'*, *'अवध सोक संताप बस, बिकल सकल नर नारि। बाम बिधाता राम बिनु माँगत मीच पुकारि॥'* (रामाज्ञा-प्रश्न)। विरह-विषाद=भावी विरहसूचक विषाद। [पुनः भाव कि विष खाने या चढ़नेसे जैसे लोग तड़पते-तलफते हैं, वैसी ही दशा सबकी हो गयी।—*'छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी।'* (रा० प्र०)]

२*'राम लछिमन-संवादा'* इति। कौसल्या-राम तथा सीता-राम-संवाद न कहकर केवल राम-लक्ष्मण-संवाद कहनेमें भाव यह है कि वात्सल्य-प्रेम ही ऐसा होता है कि माँ बेटेके साथ विपत्ति बँटानेको तैयार हो जाती है संतानवत्सला माँ अपने संतानके लिये क्या नहीं करती? और, स्त्रीका तो परीक्षाकाल ही भर्ताकी विपत्ति है यथा—*'आपतकाल परखिअहि चारी। धीरज धर्म मित्र अरु नारी॥'* अतः उनका हठ करके विपत्तिमें साथ देना धर्म है। श्रीराम-लक्ष्मणसंवादमें अपूर्वता है। सौभ्रात्रके कारण पिता, माता, स्त्री, गृह, सुख और सम्पत्ति आदिका त्याग कहीं देखा नहीं जाता। पर वही यहाँ अति उत्कर्षताके साथ है। श्रीरामजी समझाते हैं पर उनका उत्तर सुनकर कुछ कहते न बना तब माँसे विदा माँगनेको कहा। वह माँ भी कैसी हैं। वे क्या कहती हैं—*'तात तुम्हार मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥ जो पै सीय राम बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥'*—इन विशेषताओंके कारण भुशुण्डिजीने केवल 'रामलछिमन-संवाद' कहा।

लक्ष्मण-उर्मिला-संवाद हुआ ही नहीं। कारण कि लक्ष्मणजी तो अपनी खुशीसे सेवाके लिये साथ

गये, जब चाहते लौट सकते थे। वनवासके नियम भी उनपर लागू न थे। यदि लक्ष्मणजीको भी वनवास दिया होता तो उर्मिलाजीको रोकनेवाला कोई न था। दूसरी बात यह है कि उनके साथ जानेसे भर्तांके सेवाधर्ममें बाधा पड़ती जैसे कि लक्ष्मणजीने स्वयं शूर्पणखासे कहा है—*'सुंदरि सुनु मैं उन्ह कर दासा।'* अतः उर्मिलाजीने साँसतक न ली। कहीं कविका चुप रहना भी हजार बोलनेसे अधिक काम करता है। इस पहलूपर ध्यान न देकर ही लोग लक्ष्मण-उर्मिलाके संवादके लिये व्यस्त हो जाते हैं।

३ (क) *'बिपिन गवन·········'* इति। माता, पिता, परिजन, पुरजन सभीका प्राणप्रिय राजकुमार (जिसने कभी दुःखका नाम भी न सुना था) स्त्री और भाईसहित पैदल वनको चल रहा है, यह देखकर हाहाकारका मचना, धर्मधुरन्धर राजकुमारका सबको सान्त्वना देना, आश्रितोंका प्रबन्ध कर देना, पिताका कम-से-कम वनतक पहुँचानेके लिये रथका भेजा जाना, इत्यादि सब बातें ऐसी स्वाभाविक हैं कि केवल *'बिपिन गवन'* कह देनेमें आ जाती हैं। (ख) *'केवट अनुरागा'*—भुशुण्डिजी केवल केवटका अनुराग वर्णन करते हैं क्योंकि इसके अनुरागमें विशेषता है। निषादराज तो बालसखा थे और इससे तो जान-पहचान भी नहीं, निषादराजके नाते नाव माँगते हैं पर यह बड़ा मायावी भक्त है। इच्छा तो है चरणामृतकी पर सीधी-सीधी बात नहीं कहता। एक रूपक खड़ा करता है। प्रभुके चरणोंकी महिमा, अपनी लाचारी, सिंग्रौरका निवासी होनेसे प्रभुके भगिनीपति ऋषिशृङ्गसे भाईचारेका नाता और अपनी अभीष्ट अटपटे शब्दोंमें ऐसा व्यक्त करता है कि प्रभुको हँसा देता है। वे नाव माँगते हैं, वह कहता है कि तुम्हारा मर्म मैं जानता हूँ, किसी मुनिका घर बसाना चाहते हो, तुम्हारे पदरजसे मेरी नाव किसी मुनिकी स्त्री बन जायगी, मेरी जीविका ही मारी जायगी। चरण धोकर पार उतारनेपर भी उसकी चतुरता देखिये। उतराईके लिये अत्यन्त आग्रह देखकर कहता है कि लौटती समय लेंगे। प्रभुको तो विमानसे लौटना है, बात जान ली कि यह फल नहीं चाहता, अतः उसे निर्मल भक्ति देकर बिदा किया। (ग) *'सुरसरि उतरि'*—भाव कि गङ्गाजीमें देवबुद्धि है। इसी भावसे श्रीसीताजीने प्राणनाथ देवरसहित सकुशल लौटनेके लिये मनौती मानी और देवनदीने आशीर्वाद दिया। *'निवास प्रयागा'* से जनाया कि तीर्थकी भावनासे सीधे चित्रकूट न जाकर पूरब प्रयागकी ओर मुड़ गये और तीर्थमें जिस भाँति जाकर आचरण करना होता है वह किया।

४ (क) *'बालमीकि प्रभु मिलन'* इति। वाल्मीकि और उनके प्रभुका मिलना। भाव कि जिस प्रभुका उलटा नाम लेते-लेते उसके प्रभावसे वे वेदरूप हो गये। यथा—*'उलटा नाम जपत जग जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥'* इनका पूर्व नाम रत्नाकर था। (वाल्मीकि नामका कारण बालकाण्ड ३ (३) और दोहा १४ में देखिये) जिस प्रभुकी मूर्तिका वे ध्यान करते थे आज उन्हीं प्रभुका साक्षात् दर्शन पाया। यथा—*'बालमीकि मन आनँद भारी। मंगल मूरति नयन निहारी॥'* जिन गुणगणोंपर (वाल्मीकिजी) इतने मुग्ध थे कि उन्हें इस बातकी तलाश थी कि यदि ऐसे गुणवाला कोई पुरुष हो तो उसके गुणगणोंका, अपने हृदयमें प्रादुर्भूत हुए छन्दोंमें गान करूँ और जिसके लिये उन्होंने नारदजीसे पूछा था, आज उसी दुर्लभ गुणवाले पुरुषका उन्हें दर्शन हुआ। अर्थात् अपने महाकाव्यके नायकका, अपने हृदयके आराध्य देवका उन्हें दर्शन हुआ। अथवा जिसके गुणगानके लिये ही छन्दःशास्त्रका प्रादुर्भाव हुआ, जिसके यशके व्याजसे उनके हृदयसे वेदका अवतार हुआ, यथा—**'वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना॥'** उस वेदप्रतिपाद्य पुरुषका आज दर्शन हुआ। इसीसे कहा है कि—*'बालमीकि मन आनँद भारी·········।'*

यह मिलन ही रामायणका बीज है जिसका **'इक अक्षर उद्धरै ब्रह्महत्यादि परायन'** (नाभा स्वामी)। वाल्मीकि माधुर्यके उपासक हैं, अपने काव्यमें माधुर्य ही अधिक कहा है, अतः उनसे मिलनेमें प्रभुने भी माधुर्यका आश्रयण किया, प्राकृत राजाकी भाँति अपना दुःख-सुख कह गये और रहनेके लिये स्थान पूछा। इस अभिनयको देखकर महाकविका हृदय फड़क उठा और वे ऐश्वर्य बोल चले। प्रभुका स्वरूप, अवतारका कारण और अवतार कहकर रहनेका स्थान बतलानेके व्याजसे चौदह प्रकारके भक्त कहे जिसके वर्णनसे सम्पूर्ण रामायण आ जाता है। तत्पश्चात् समय सुखदायक स्थान चित्रकूट बतलाया।

(ख) *'चित्रकूट जिमि बसे भगवाना'* इति। यहाँ 'भगवान्' का बसना कहनेमें छवों भग (ऐश्वर्य) वर्णन किया। ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये छवों इस प्रसङ्गमें देखे जाते हैं। ऐश्वर्य यथा—*'अमर नाग किन्नर दिसिपाला। चित्रकूट आए तेहि काला॥.........करि बिनती दुख दुसह सुनाए।.........'* (२। १३४) धर्म, यथा—*'राम बास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥ सचिव बिराग बिबेक नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू॥ भट जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुंदर रानी॥'* (२। २३५) यश, यथा—*'चित्रकूट रघुनंदन छाए। समाचार सुनि सुनि मुनि आए॥.........यह सुधि कोल किरातन पाई। हरषे जनु नव निधि घर आई॥.........'* (२। १३४। ५-१३५। २) श्री, यथा—*'लषन जानकी सहित प्रभु राजत रुचिर निकेत। सोह मदन मुनि बेष जनु रति रितुराज समेत॥'* (२। १३३) *'अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा॥.........'* (२। २३६) ज्ञान, यथा—*'लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंदु। ग्यान सभा जनु तनु धरे भगति सच्चिदानंदु॥'* (२। २३९) वैराग्य, यथा—*'सीस जटा कटि मुनि पट बाँधे॥'* (२। २३९। ५)

सचिवागवन नगर नृप मरना। भरतागवन प्रेम बहु बरना॥ ५॥
करि नृप क्रिया संग पुरबासी। भरत गए जहँ प्रभु सुखरासी॥ ६॥
पुनि रघुपति बहु बिधि समुझाए। लै पादुका अवधपुर आए॥ ७॥
भरत रहनि सुरपति सुत करनी। प्रभु अरु अत्रि भेंट पुनि बरनी॥ ८॥

दो०—कहि बिराधबध जेहि बिधि देह तजी सरभंग।
बरनि सुतीछन प्रीति पुनि प्रभु अगस्ति सत्संग॥ ६५॥

अर्थ—(श्रीसुमन्त्रजी) मन्त्रीका नगरमें लौटकर आना, दशरथ महाराजकी मृत्यु, भरतजीका (केकयदेश अपने ननिहालसे) आगमन और उनका भारी प्रेम बहुत कुछ वर्णन किया॥ ५॥ राजाकी क्रिया करके पुरवासियोंको साथ लिये श्रीभरतजी वहाँ गये जहाँ सुखकी राशि प्रभु रामजी थे॥ ६॥ (फिर वहाँ पहुँचनेपर) रघुनाथजीके बहुत प्रकार समझानेसे वे खड़ाऊँ लेकर अवधपुरी लौट आये॥ ७॥ फिर श्रीभरतजीकी रहनी (अर्थात् जिस प्रकार वे नन्दिग्राममें पृथ्वी खोदकर जटाएँ धारणकर व्रत-नियमादिसहित रहे वह सब) इन्द्रपुत्र जयन्तकी करतूत और प्रभु रामचन्द्रजी और अत्रिजीकी भेंटका वर्णन किया॥ ८॥ विराधवध जिस प्रकार हुआ और जिस प्रकार शरभङ्ग ऋषिने तन त्याग किया यह कहकर फिर श्रीसुतीक्ष्णजीका प्रेम वर्णन करके प्रभु और अगस्त्यजीका सत्सङ्ग कहा॥ ६५॥

☞ *'बहुरि रामअभिषेक'* से *'भरतरहनि'* तकसे अयोध्याकाण्डकी सब कथा कहना जना दिया।

वि० त्रि०—१ (क) सुमन्त या सारथी न कहकर सचिव शब्द रखनेका भाव कि ये रघुकुलके बहुत पुराने मन्त्री हैं, राजाके बाद इन्हींका दर्जा है। स्वयं श्रीरामजी इनका पिता समान आदर करते हैं। इनसे महाराजको तथा इनको स्वयं बहुत आशा थी कि श्रीरामजीको लौटा ले चलेंगे। पर श्रीरामजीने उन्हें लौटा दिया। (उस समयका उनका प्रेम, दुःख और सोच ग्रन्थकारने स्वयं अयोध्याकाण्डमें दिखाया)। (ख) *'सचिवागवन नगर'* का भाव कि सारा नगर-का-नगर उनके आगमनका बाट जोह रहा था, नगरभरको आशा लगी थी। अकेला आया देख नगरमें हाहाकार मच गया। नृपको भी आशा थी। उनके अकेले आगमनसे उनकी मृत्यु हुई, इसीसे *'आगवन'* के साथ ही *'नृप मरना'* कहा। नृपमरणपर कोई पुत्र यहाँ न था जो संस्कार करता तथा राज्य भी राजाहीन होनेके कारण श्रीभरतजीको (जिन्हें पिता राज्य दे गये हैं) बुलाया गया। यह सब भी *'नृप मरन'* में कह दिया।

नोट—*'भरत आगवन.........'* इति। (क) *'आगवन'* से वसिष्ठजीका दूतोंद्वारा उनको बुलवाना, उनका तुरत चलकर अवधपुर आना, नगरमें सन्नाटा देखना, किसीका उनका स्वागत न करना, न उनके पास जाना इत्यादि, केकयीका स्वागत करना यह सब कह दिया। इसके आगे पितापर जो उनका प्रेम था वह देखनेमें

आया। पिताके मरणका मुख्य कारण केकयीका अपने पुत्रके लिये राज्य तथा प्राणोंसे अधिक प्रिय श्रीरामजीका वनवास सुनकर उनके शोकका पार न रह गया। प्रथम तो उन्होंने केकयीको बहुत खोटी-खरी सुनायी और फिर उसका त्याग ही किया—*'आँखिओट उठि बैठहि जाई।'* (२। १६२) यहींसे बराबर सर्वत्र अयोध्याकाण्डभरमें उनके प्रेमकी ही कथा है। कौसल्याजीके सामने, वसिष्ठजीकी अवधसभाके सामने जो उनका प्रेम देखा गया तथा सारी सम्पत्तिको श्रीरामजीकी जानकर उसके प्रबन्धमें जो प्रेम इत्यादि *'बहु'* है सो वर्णन किया गया। इसके आगे *'भरत गए जहँ..........'* वाला प्रसङ्ग है। (ख) *'करि नृपक्रिया'* 'यह प्रसङ्ग *'बामदेउ बसिष्ठ तब आए।'* (२। १६९। ७) से *'पितु हित भरत कीन्हि जसि करनी.....'* (१७१। १) तक है। (ग) *'सँग पुरबासी'* से जनाया कि जिस सभामें भरतजीने अपना दृढ़ निश्चय कहा था कि *'प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं।'* (२। १८३। २) उसमें ये सब भी थे और सब चलनेको तैयार हो गये—*'अवसि चलिअ बन रामु जहँ।..........'* १८४), *'जरउ सो संपति सदन सुख।..........'* (१८५)

वि० त्रि०—१ (क) पुरवासियोंको साथ लेनेमें भाव यह है कि वनमें ही गुरुजी श्रीरामजीका तिलक करेंगे। राजा बनाकर राजसी ठाट-बाटके साथ उनको वनसे लौटा लायेंगे। क्योंकि जिसको महाराज राज्य दे गये हैं जब वह उसे नहीं चाहता और प्रजा भी श्रीरामजीको राजा चाहती है तब उनके राज्य न स्वीकार करनेका कोई कारण ही न रह जायगा। (ख) *'जहँ सुखरासी'* का भाव कि भरतजी दुखी हैं और सारी प्रजा भी दुखी है। दुःख मिटानेका, सिवा सुखराशिकी शरण जानेके दूसरा उपाय नहीं। पुनः भाव कि ये सब तो प्रभुके दुखी होनेके भयसे दुःखी हैं यथा—*'एकहि उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सियराम दुखारी॥'* पर प्रभु तो सुखराशि हैं, उन्हें दुःख कहाँ! प्रभु सुखराशिकी झाँकी उन्होंने आश्रमके निकट पहुँचकर की। वह २। २३९ में देखिये—*'सीस जटा कटि मुनिपट बाँधे'* इत्यादि। दर्शन होते ही *'बिसरे हरष सोक सुख दुख गन।'* (२४०। १)

पं० रा० व० श०—*'भरत गए जहँ प्रभु सुखरासी'* इति।—सुखराशि कहा क्योंकि भरतजीको जो दुःख था वह प्रभुके सम्मुख जानेपर दूर हो गया और वे सुखी हो गये। भरतागमनसे ही जनकागमन-प्रसङ्ग भी है।

रा० शं० श०—१ *'भरत गए जहँ प्रभु सुखरासी'* इति।—*'सुखरासी'* पद देनेका कारण कि आश्रममें प्रवेश करते ही दुःख मिट गये, यथा—*'करत प्रबेस मिटे दुख दावा। जनु जोगी परमारथ पावा॥'*

२ *'पुनि रघुपति..........'* इति। [(क) *'पुनि'* में यह भाव भी ले सकते हैं कि पूर्व वसिष्ठजीने अवधमें समझाया था, माता कौसल्या, मन्त्रिमण्डल और पुरवासी भी उनसे सहमत हुए पर उन्होंने आज्ञा न स्वीकार की। अब यहाँ आनेपर *'रघुपति'* ने समझाया] (ख) *'रघुपति'* का भाव कि ये तो चक्रवर्तीजीके रहते ही *'रघुपति'* थे। यथा—*'अनुज समेत देहु रघुनाथा।'* (१। २०७। १०), *'छुअत टूट रघुपतिहु न दोसू।'* (१। २७२। ३) जो बड़ा होता है वह जन्मसे ही बड़ा होता है। सभी उससे दबते हैं, उसका रुख देखा करते हैं। यथा—*'लखी राम रुख रहत न जाने'* (दशरथजी), *'अस बिचार जस आयेसु होई। मैं सिख देउँ जानकिहि सोई॥'* (२। ६०। ६) (माता कौसल्याजी),*'राखे राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ।'* (२। २५४) (गुरु वसिष्ठजी), *'राखि राम रुख धरम ब्रत पराधीन मोहि जानि।'* (२। २९३) (श्रीभरतजी); अतः राज्यकी कोई अपेक्षा नहीं, श्रीरामजी स्वभावसे ही रघुपति हैं। वे वही करेंगे जिससे रघुकुलकी मर्यादा रहे। अतः *'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई॥'* इस रीतिकी रक्षा करेंगे।

(ग) *'बहु बिधि समुझाए'* इति। चित्रकूटकी पहली सभामें भरतजीकी निर्दोषता तथा अपनी लाचारी कहकर समझाया। दूसरी सभामें समझाया कि धर्मसंकटमें तुम हमारी सहायता करो। क्योंकि भाई हो। और विदाईके समय समझाया कि तुम्हारे ऊपर कोई भार नहीं है, भार श्रीगुरुजीपर है अथवा *'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥'* अतः इन चारों विधियोंसे समझाया। यथा—*'जानहु तात तरनिकुल रीती। सत्यसंध पितु कीरति प्रीती॥'* (२। ३०५। १) (नीति) *'बाँटी बिपति सबहिं मोहि भाई। तुम्हहि अवधि भरि बड़ि कठिनाई॥'* (२। ३०६। ६) (प्रीति), *'मोर तुम्हार परम पुरुषारथु। स्वारथु*

सुजस धरमु परमारथु॥ पितु आयसु पालिहिं दुहु भाईं। लोक बेद भल भूप भलाईं॥' (२। ३१५) और अन्तमें पादुका देकर संतुष्ट कर दिया।

पुनः भाव कि प्रेमीको उसका प्रेमी ही समझा सकता है। बात वही हुई जो गुरुजीने अयोध्याकी सभामें कही थी, पर समझे भरत रामजीके ही समझानेसे।

शीला—*'लै पादुका.........'* इति। भाव कि और किसी तरह न समझे, राज्य पानेमें कृपा न समझी, जब पादुकारूपी सेवा पायी तब कृपा जानी। ☞इसी प्रकार भक्तको कैसा ही भारी ऐश्वर्य क्यों न मिल जाय उसे भगवत्-कृपा न मान लेना चाहिये। प्रभु न आये तो उनके प्रतिनिधि तो आये, ये ही अवधिभर सिंहासनासीन रहेंगे, आज्ञा देंगे वही किया जायगा। इस तरह राज्य स्वीकार हो गया। *'अवधपुर आए'* से यह भी जना दिया कि पादुका पाकर फिर तुरंत चित्रकूटसे चल दिये। प्रेमीका भगवान्‌से विदा होना न कह सके, दूसरे प्रेमीके साथ पादुकारूपमें हैं ही, प्रेमी भगवान्‌से अलग नहीं इत्यादि कारणोंसे *'अवधपुर आए'* से ही बिदाई कह दी।

'भरत रहनि'—अयोध्याकाण्ड दो० ३२३ से ३२६ (४) तक देखिये।

वि० त्रि०—*'सुरपति सुत.........'*—भाव कि बेटा भी बापके समान ही हुआ चाहे *'काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥'* बेटा करनीमें बापसे बढ़ा-चढ़ा है। देखिये सुरपतिको तो काक समान ही कहा है और बेटा तो काक ही हो गया। मलिन ऐसा कि सरकारका वन-विहार न देख सका। —*'सीता चरन चोंच हति भागा।'* कहीं प्रतीति नहीं—देखिये जिन प्रभुके बलपर देवसमाजने इतनी प्रतीति की कि चित्रकूट आनेपर पुष्पवृष्टि करके कहा कि *'नाथ सनाथ भए हम आजू',* उन्हीं प्रभुके बलकी परीक्षा करने चला। पुनः भाव कि यह समझकर परीक्षाके लिये आया कि सुरपतिका पुत्र हूँ, सारे देवसमाजका मुझे सहारा है, ब्रह्मलोकतक मेरी पहुँच है। तभी तो उसने देवसमाजके परम उपकारीके साथ ऐसी करनी की। समझा था कि काक समझकर काक-वध-योग्य बाण मारेंगे तो उससे मेरा होगा क्या? यदि पहिचान लिया और किसी दिव्यास्त्रका प्रयोग किया तो उसका उपसंहार करूँगा।

वि० त्रि०—*'प्रभु अरु अत्रि भेंट.........'* इति। (क) प्रभुका भाव—समर्थ हैं। खरदूषणादिके भयसे ऋषियोंको भागते हुए सुनकर उसी ओर बढ़ा चाहते हैं। वा प्रभु हैं। सेवकोंके वचनको सत्य करते हैं। वाल्मीकिजीने कहा था कि अत्रि आदि मुनिवरोंका श्रम दर्शन देकर सफल कीजिये और कामदगिरिको गौरव दीजिये। गिरिको तो गौरव दे चुके, अब ऋषियोंके आश्रमोंपर जा रहे हैं। अथवा *'संतत दासन देहु बड़ाई'* अतः अत्रिजीको बड़ाई देनेके लिये उनकी आज्ञासे आगे जायँगे और उनकी धर्मपत्नीको बड़ाई देनेके लिये उनसे सीताजीको पातिव्रत्यका उपदेश दिलायेंगे। (ख) *'पुनि'* से जनाया कि पूर्व भी इनसे भेंट हो चुकी है। यथा *'अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू। तात बिगत भय कानन चरहू॥'* (ग) *'भेंट'* का साधारण अर्थ तो है ही। दोनोंका मिलना विस्तारसे अरण्यकाण्डमें है। दूसरा भाव यह भी है कि श्रीअनसूयाजीसे भगवती जनकनन्दिनीने भेंट स्वीकार की, यह भी कहा।—*'दिब्य बसन भूषन पहिराए।.........'* इसीसे और किसीके साथ मिलनेमें भेंट शब्द नहीं आया है।

२—प्रभु और अत्रिजीकी भेंटमें *'बरनी'* पद आदरका लाये; क्योंकि अत्रिजी सुनकर हर्ष-प्रेम-पुलकसे पूरित हो गये थे। इसी प्रसङ्गमें अनसूयाजीका प्रेम श्रीकिशोरीजीके साथ और उनके व्याजसे पातिव्रत्यधर्म वर्णन किया।

नोट—*'कहि बिराध बध.........'* इति। (क) महर्षिसे अत्रिसे बिदा होकर दण्डकारण्यकी ओर चले तो प्रथम विराधका ही सामना पड़ा। इसकी मृत्यु किसी अस्त्र-शस्त्रसे नहीं हो सकती थी। रघुनाथजीने इसकी मृत्युकी विधि तुरत खोज निकाली। इसीसे *'बिराध बध पंडित'* आपका एक नाम ही हो गया। ५१ (५) देखिये। इसकी पूरी कथा (३। ७। ६-७) में देखिये। दण्डकारण्यमें प्रवेश करते ही असुर विराध मिला। और अन्तमें वैसे ही अजर-अमर खरदूषणादि राक्षसोंका सामना हुआ। उनका भी वध

आपने पण्डिताईसे किया। इसीसे *'खरदूषन बिराध बध पंडित'* कहे जाते हैं। (ख) श्रीशरभङ्गजीकी कथा (३। ७। ८ से ३। ९। ४) तक है। दण्डकारण्यमें श्रीरामजीका आगमन सुन इन्होंने बिना दर्शन किये ब्रह्मलोकको जाना स्वीकार न किया और दर्शन हो जानेपर प्रभुके सामने ही दर्शन करते हुए उन्होंने योगाग्निसे शरीरको भस्म कर दिया, क्योंकि दर्शन होनेपर पुनः वियोग होना उनको असह्य था। *'जेहि बिधि'*, यथा—*'तब लगि रहहु दीन हित लागी। जब लगि तुम्हहि मिलौं तनु त्यागी॥ जोग जग्य जप तप ब्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा॥ एहि बिधि सर रचि मुनि सरभंगा। बैठे हृदय छाँड़ि सब संगा॥ सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम। मम हिय बसहु निरंतर सगुन रूप श्रीराम॥'* (३। ८) *असि कहि जोग अगिनि तनु जारा।'*

वि० त्रि०—*'बरनि सुतीछन प्रीति पुनि'* इति। (क) यहाँपर 'सुतीछन' शब्द श्लिष्ट है। मुनिका नाम सुतीक्ष्ण है और उनकी प्रीति भी सुतीक्ष्ण है। श्रीरामजी गये तो अनेक ऋषियोंके पास पर कथा अत्रि, शरभङ्ग, सुतीक्ष्ण और अगस्त्य चार ऋषियोंकी ही दी गयी। चारोंमें चार विशेषताएँ हैं। भेंटकी विशेषता अत्रिमें, देह-त्यागविधिकी विशेषता शरभङ्गमें, प्रीतिकी विशेषता सुतीक्ष्णमें और सङ्गकी विशेषता अगस्त्यजीमें। (श्रीसुतीक्ष्णजीके प्रेमकी कथा ३। १०। १ *'मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना। नाम सुतीछन रति भगवाना॥'* से लेकर ३। १२। ४ तक है)। प्रेमकी सुतीक्ष्णता देखिये। ध्यानमें जो मूर्ति थी उसमें दो हाथ और बढ़ गये। मूर्ति चतुर्भुज हो गयी। बस इतना ही मुनिजीके ध्यानभङ्गके लिये यथेष्ट था। यथा—*'मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे। बिकल हीन मनि फनिबर जैसे॥'* (३। १०। १९) वहाँ आसक्ति तो द्विभुजमूर्ति कोसलपतिमें थी। उन्हें औरसे काम क्या? वहाँ तो यह सिद्धान्त है कि *'जे जानहिं ते जानहुँ स्वामी। सगुन अगुन उर अंतरजामी॥ जो कोसलपति राजिवनयना। करउ सो राम हृदय मम अयना॥'* (३। ११। १९-२०) राममें भी चतुर्भुज, अष्टभुज, सहस्रभुज राम नहीं, जो कोसलपति अर्थात् द्विभुज राम हैं वे हृदयमें बसें। यदि वे ही चतुर्भुजादि रूपसे आवें तो अपनेको कोई काम नहीं। ऐसी तीखी भक्ति और कहीं नहीं दिखायी। इन्हें वे राम मिले नहीं तो फिर दूसरेसे क्यों माँगें। *'मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाँचा। समुझि न परइ रूढ़ का साँचा॥'* (३। ११। २४) [यह पाठ त्रिपाठीजीने दिया है] इस *'रूढ़को साँचा'* संसारमें असली बात ही नहीं समझमें आती, माँगे भी तो क्या माँगे। प्रेमपात्रसे क्या माँगें? यदि प्रेमपात्र देनेको उत्सुक है तो जो उसका जी चाहे दे दे। प्रेमको तो इतना ही चाहिये कि वह हृदयसे (दूर) न हो। यथा—*'मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम।'* (३। ११)

'प्रभु-अगस्ति-सतसंग' इति। इन ऋषिकी प्रभुता पञ्चतत्त्वोंपर थी। इन्होंने समुद्रशोषण किया, विन्ध्याचलको बढ़नेसे रोका। ऐसे प्रतिभाशाली ऋषिका और प्रभुका समागम हुआ। इनसे ही प्रभुने निशाचरोंके वधका उपाय पूछा और ऋषिजीने उपाय बतला ही तो दिया—*'है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। पावन पंचबटी तेहि नाऊँ॥''''''''''बास करहु तहँ रघुकुलराया।''''''''''* (३। १३। १५—१७) तात्पर्य यह था कि रावणसे वैर होनेसे ही पृथ्वी निशिचरहीन हो सकेगी। यहाँ निकट ही खरदूषणादिसहित शूर्पणखा रहती है। अतः अवश्य किसी-न-किसी दिन खटपट होगी और वही निशाचरनाशका उपाय बनेगी। अतः महात्माके सङ्गसे श्रीरामजीको ईप्सित सिद्धिका मार्ग मिला। दूसरी बात यह भी है कि इन्हीं महात्माने भगवान् शङ्करकी भाँति सत्सङ्ग भी माँगा है। यथा *'यह बर माँगउँ कृपानिकेता। बसहु हृदय श्री अनुज समेता॥ अबिरल भगति बिरति सतसंगा। चरन सरोरुह प्रीति अभंगा।'* (३। १३। १०-११) इस मिलनमें सङ्गकी महिमा अधिक द्योतित होनेसे इस प्रसङ्गको *'प्रभु अगस्ति सतसंग'* कहा। [ये ऐसे ही महात्मा हैं। श्रीसनकादिक ब्रह्मलीन ऋषि भी इनके पास सत्सङ्गको जाते हैं और कौन कहे स्वयं भगवान् शङ्कर इनके सत्सङ्गको जाया करते हैं। भगवान् शङ्कर सोचते हैं कि हमने तो समुद्रसे निकले हुए एक कालकूटको पीकर कण्ठमें ही रख लिया और इन्होंने तो समुद्रको ही पी डाला। इत्यादि। अतः श्रीरामजीका भी वहाँ सत्सङ्गके लिये जाना कहा गया]

कहि दंडक बन पावनताई। गीध मइत्री पुनि तेहि गाई॥ १॥
पुनि प्रभु पंचबटी कृत बासा। भंजी सकल मुनिन्ह की* त्रासा॥ २॥
पुनि लछिमन उपदेस अनूपा। सूपनखा जिमि कीन्हि कुरूपा॥ ३॥
खरदूषन बध बहुरि बखाना। जिमि सब मरमु दसानन जाना॥ ४॥

अर्थ—दण्डकवनका पवित्र करना कहकर फिर उसने गृध्रराजकी मित्रता (बड़े प्रेमसे) कह सुनायी॥ १॥ फिर (जो) प्रभुने पञ्चवटीपर वास किया और सब मुनियोंका भय नाश किया। (वह कहा)॥ २॥ फिर लक्ष्मणजीको जो उपमारहित उपदेश किये और जिस प्रकार शूर्पणखाको कुरूप किया (वह सब कहा)॥ ३॥ फिर खर-दूषणवध और जिस प्रकार रावणने सब मर्म जाना वह सब वर्णन किया॥ ४॥

रा० शं०—*'पावनताई'*, यथा—*'है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। पावन पंचबटी तेहि नाऊँ॥ दंडकबन पुनीत प्रभु करहू।'* दण्डकवन पुनीत हो गया, यथा—*'गिरि बन नदी ताल छबि छाए।'* २—*'भंजी सकल मुनिन्ह की त्रासा'*, यथा—*'जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भए मुनि बीती त्रासा॥'* ३—*'पुनि लछिमन उपदेस अनूपा।'* 'अनूप' जैसा कि उपदेशके अन्तमें कहा है *'भगति तात अनुपम सुखमूला।'* ४—*'कुरूपा'* अर्थात् *'नाक-कान बिनु भइ बिकरारा।'* खर-दूषणवध बखाननेका भाव कि उसमें मायानाथने अति कौतुक किया था—(ये रावणके समान बलवान् थे। रावणसमर विस्तारसे है, अत: इसे भी विस्तारसे कहा। इसमें प्रभुका ऐश्वर्य और सामर्थ्य प्रकट होता है)

रा० प्र०—शूर्पणखाको कुरूप किया तब खर-दूषणसे उसने पुकार की। वे सहायक बनकर बदला लेने आये। अत: युद्धमें उनका वध हुआ। शूर्पणखाद्वारा रावणने मर्म जाना।

वि० त्रि०—समय निर्णय—वनवासके दस वर्ष तो मुनियोंके आश्रममण्डलमें घूमते बीते। फिर सुतीक्ष्णजीके आश्रममें आकर कुछ दिन रहे। यथा— **'तत्रापि निवसद्रामः किञ्चित्कालमरिन्दमः।'** (वाल्मी०) फिर अगस्त्यजीके आश्रममें आये। यहाँ *'अगस्ति सत्सङ्ग'* पद ही कहे देता है कि अधिक दिनोंतक रहे। श्रीगोस्वामीजीने वनवासके प्रारम्भमें श्रीरामजीसे कहलाया है—*'बरष चारि दस बास बन मुनिब्रत बेष अहार।'* और अवधिके अन्तिम भागमें कह देते हैं—*'पुर न जाउँ दस चारि बरीसा।'* इस भाँति अवधिके पहले चार वर्ष और पिछले चार वर्षकी प्रधानता दिखलाते हैं। इस प्रकार चौदह वर्षकी अवधिको तीन भागमें विभक्त करते हैं। पहले चार वर्ष, मध्यके छः वर्ष और अन्तके चार वर्ष। पहले चार वर्ष शरभङ्गजीके आश्रममें आनेके बाद पूरे होते हैं। मध्यके छ: वर्ष सुतीक्ष्णजीके आश्रममें जाने और फिर सुतीक्ष्णके आश्रममें लौटनेमें समाप्त होते हैं। अगस्त्यजीके आश्रमसे अयोध्याप्राप्तितक दूसरे चार वर्ष समाप्त होते हैं। इस भाँति अगस्त्याश्रममें वनवासका ग्यारहवाँ वर्ष समाप्त होता है।-[यह मत वाल्मीकीयके आधारपर जान पड़ता है। मानसमें कई स्थानोंमें वाल्मीकीयसे मतभेद है]।

दसकंधर मारीच बतकही। जेहि बिधि भई सो सब तेहिं कही॥ ५॥
पुनि माया-सीता कर हरना। श्रीरघुबीर बिरह कछु बरना॥ ६॥
पुनि प्रभु गीध क्रिया जिमि कीन्ही। बधि कबंध सबरिहि गति दीन्ही॥ ७॥
बहुरि बिरह बरनत रघुबीरा। जेहि बिधि गए सरोवर तीरा॥ ८॥

अर्थ—जिस प्रकार रावण और मारीचकी बातचीत हुई वह सब उसने कहा॥ ५॥ फिर मायासीताका हरण और श्रीरघुनाथजीका विरह किंचित् वर्णन किया॥ ६॥ फिर जैसे प्रभुने गृध्रराज जटायुजीकी क्रिया की, कबन्धका वध करके शबरीजीको गति दी और फिर जिस प्रकार विरह वर्णन करते हुए रघुवीर पम्पासरके तीर गये (वह सब कहा)॥ ७-८॥

* मुनिन कै—(का०)।

नोट—१ *'दसकंधर मारीच बतकही।.........'* इति। (क) यह प्रसंग अरण्यकाण्डमें है। वहाँ भी रावणके 'दसमुख' 'दससीस' नामोंका ही प्रयोग हुआ है। *'दसमुख गयेउ जहाँ मारीचा', 'दसमुख सकल कथा तेहि आगे। कही सहित अभिमान अभागे॥', 'तेहि पुनि कहा सुनहु दससीसा। ते नर रूप चराचर ईसा॥'* दसकन्धर नाम दिया क्योंकि उसे अपने दस सिर बीस भुजाके होनेका अभिमान था। उसने मारीचसे कहा भी है—*'कहु जग मोहि समान को जोधा।'* मारीचने उससे बात करना 'दससीस' सम्बोधनसे आरम्भ ही किया है—*'तेहि पुनि कहा सुनहु दससीसा।'* यहींसे उसका सदुपदेश भी प्रारम्भ होता है; इसीसे *'सुनहु दससीसा'* से जो बातचीत हुई उसे 'बतकही' कहा। बतकही शब्द (१। ९। २, १। २३१, ४। २१, ६। १६। ७, ६। १७। ८, ७। ४७। ८) में पूर्व आ चुका है, विशेष भाव वहीं देखिये। (ख) *'जेहिं बिधि भई'* से शूर्पणखाका रावणके पास जाकर उसे उत्तेजित करना और उसका श्रीसीताजीको हर लानेमें मारीचकी सहायता लेनेका विचार करके मारीचके पास जाना भी सूचित कर दिया। मारीचका राजाकी पूजा करना कुशल पूछकर आगमनका कारण पूछना भी आ गया। बस इस प्रकार 'बतकही' प्रारम्भ हुई। (ग) *'सो सब तेहि कही'* इति। 'सब' से जनाया कि विस्तारसे पूरी-पूरी बातचीत कही कुछ छोड़ा नहीं, न संक्षेपसे कहा। 'सब' कहनेका कारण 'बतकही' शब्दमें निहित है। उसमें सदुपदेश है, उसमें श्रीरामजीके स्वरूप, पौरुष और चरित्रका वर्णन है; अतः उसे पूरा-पूरा कहा।

२ *'पुनि माया-सीता कर हरना।.........'* इति। (क) इससे रावणके सीताहरणका विचार करके मारीचके आश्रममें आनेके बीचमें ही प्रभुने जो युक्ति की वह सब भी कह दी। यथा—*'जौं नररूप भूपसुत कोऊ। हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ॥ चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ। बस मारीच सिंधु तट जहवाँ॥ इहाँ राम जसि जुगुति बनाई। सुनहु उमा सो कथा सुहाई॥'* (ख) *'माया सीता'* अर्थात् श्रीसीताजी तो प्रभुकी इच्छा ललित नरलीला करनेकी जानकर उनकी आज्ञानुसार पावकमें निवास करने लगीं और अपना प्रतिबिंब, अपनी प्रतिमूर्त्तिको आश्रममें रख दिया। यथा—*'सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नर लीला॥ तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा।.........प्रभुपद धरि हिय अनल समानी॥ निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसइ सील रूप सुबिनीता॥'* (३। २४। १—४) अतः रावणके माया ही हाथ लगी। वह श्रीरामजीको अपनी माया-(कपट मृग-) से ठगने आया और ठगा गया स्वयं, यह *'माया सीता कर हरना'* कहकर जनाया।

पं० रा० व० श०—*'बिरह कछु बरना'* का भाव कि विरहकी कथा बड़ी विस्तृत है पर ऋषि और उपासक किंचित् ही वर्णन किया करते हैं। ['कछु' इससे भी कहा कि यह विरही-नाट्य थोड़ी ही देरका था, जबतक आश्रममें गृध्रराज जहाँ पड़े थे वहाँतक न पहुँचे थे।]

नोट—२ *'श्रीरघुबीर बिरह'* का भाव कि प्रभु पञ्चवीरतायुक्त हैं। उनके विरहमें भी दया, पराक्रम और त्यागवीरता भरी है। देखनेमें वे प्रियारहित हैं, कामातुर हैं, विरही हैं, पर वस्तुतः 'श्रीजी' का उनसे नित्य संयोग है, वे ललित नरलीला दिखा रहे हैं।—*'अतुलित बल नरकेहरि दोऊ।.........बिरही इव प्रभु करत बिषादा॥'* (३। ३७। १, २), *'पूरनकाम राम सुखरासी। मनुज चरित कर अज अबिनासी॥'* (३। ३०। १७) *'कबहूँ जोग बियोग न जाकें। देखा प्रगट बिरह दुख ताकें॥'*—बा० ४९ (८) मेंके सब भाव *'श्रीरघुबीर'* में हैं।

नोट—३ *'पुनि प्रभु गीध क्रिया.........'* इति। (क) *'गीध क्रिया'* से उसका श्रीसीताजीका आर्तरुदन सुनकर रावणसे उनको छीन लेना और रावणसे युद्ध करना और अद्भुत करनी करके पक्षोंके कट जानेसे मृतप्राय होकर गिरना तथा विरह करते हुए श्रीरामजीका मार्गमें उसे पड़े हुए देखकर उसके पास जाना, उसको स्पर्शद्वारा 'विगत पीरु' करना, उसका सीताहरण समाचार देना और श्रीरामजीकी गोदमें शरीर त्यागकर दिव्य चतुर्भुज रूप धारणकर श्रीरामजीकी स्तुति करके अविरल भक्तिका वर प्राप्तकर हरिधाम जानेतककी सब कथा भी कह दी जो क्रियाके पूर्व हुई। (ख) *'गीध-क्रिया'* से दिखाया कि कहाँ वह *'अधम खग आमिष भोगी'* और कहाँ मनुष्य और उसमें भी ब्रह्म अवतार! मनुष्य पक्षीकी क्रिया करे यही अनोखी बात है और ये तो परमात्मा हैं। इससे दिखाया कि अधम-से-अधम क्यों न हो, जो दीन है, पर भगवान्‌से

कोई नाता दृढ़ कर लेता है उसको भगवान् अवश्य अपनाते हैं। इसने अपनेको दशरथ महाराजका सखा कहा था और उसी भावसे पंचवटीमें रक्षामें तत्पर हुआ, श्रीसीताजीके लिये अपने प्राण दे दिये। अत: भगवान्‌ने भी पिता भावसे उसकी अपने हाथोंसे क्रिया की। *'तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम।'* (३। ३२) में विशेष भाव देखिये। 'प्रभु' से जनाया कि वे समर्थ हैं, जगत्‌मात्रके स्वामी हैं, ऐसा करना उन्हींके योग्य है। भला विरही यह कर सकता? विरह तो उनका नर-नाट्य था।

४ *'बधि कबंध.........'* इति। (क) यह भी प्रभुताका कार्य है। क्योंकि इसके भयसे उस वनमें कोई जा नहीं सकता था। दो शब्दमें इसे लिखकर जनाया कि बहुत संक्षेपसे इस कथाको कहा। उसका वध होनेपर उसने भी आपको 'प्रभु' माना है। यथा—*'दुरबासा मोहि दीन्ही सापा। प्रभु पद पेखि मिटा सो पापा॥'* (३। ३३। ७) (ख) *'गति दीन्ही'* कबन्ध और सबरिहि दोनोंके साथ अन्वित है, यथा—*'ताहि देइ गति राम उदारा। सबरीके आश्रम पगु धारा॥'* (३। ३४) इसीमें शापकी कथा, और प्रभुका उपदेश भी आ गया। (ग) *'सबरिहि गति दीन्ही'*—इस क्रियाका कर्ता भी प्रभु है। इस प्रसङ्गमें भी 'प्रभु' शब्द आया है। यथा—*'प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि।'* (३। ३४) *'पानि जोरि आगे भइ ठाढ़ी। प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी॥'* (३। ३५। १) और अन्तमें *'बार बार प्रभु पद सिरु नाई'* आया है। इस तरह श्रीशबरीजीके आश्रममें आनेपर तीन बार यह शब्द आया है। शबरीके फल खाना, ऋषियोंको छोड़ उसके आश्रममें जाना और उसको गति देना यह सब प्रभुत्वका काम है। (घ) *'सबरिहि'* से जातिहीन और पापयोनि आदि सूचित किया; यथा—*'जातिहीन अघ जन्म महि मुक्त कीन्हि असि नारि।'* (३। ३६)

५—*'बहुरि बिरह.........'* इति। (क) *'बहुरि'* का भाव कि पहले भी कुछ वर्णन हुआ था। यथा—*'श्रीरघुबीर बिरह कछु बरना।'* पहले आश्रमको श्रीजानकी-विहीन देखकर विरहीका-सा विलाप किया था। गृध्रराजको देख वह विरह जाता रहा, श्रीशबरीजीके यहाँसे चलनेपर फिर वही नाट्य करने लगे। यथा—*'बिरही इव प्रभु करत बिषादा।'* (३। ३७) यहाँ *'बिरह बरनत रघुबीरा'* कहते हैं, रघुवीर विरहका वर्णन करते हैं। इससे जनाया कि विरही हैं नहीं। पुन: इस समय जो कुछ वे विरहमें कह रहे हैं वह सब उपदेशमय है, उसमें अनेक कथाएँ और संवाद हैं यह सूचित करनेके लिये *'बिरह बरनत'* कहा। यथा—*'कहत कथा अनेक संबादा।'* (३। ३७। २) से *'क्रोधके परुष बचन बल.........।'* (३। ३८) तक। (ख) *'जेहि बिधि'* अर्थात् विरहमें अनेक कथा-संवाद कहते-कहते वहाँ पहुँच गये। *'सरोवर तीरा'* अर्थात् पंपासरके तटपर। यहाँ पहुँचनेपर विरह-विलाप जाता रहा। यथा—*'बैठे परम प्रसन्न कृपाला। कहत अनुज सन कथा रसाला॥'* (३। ४१। ४) यहाँतक *'गए सरोवर तीरा'* प्रसङ्ग है। (ग) *'सरोवर'* का नाम न देकर जनाया कि सरोवर प्रसिद्ध है, इसे सब जानते हैं। उधर ऋषि इसीमें स्नान करते थे।

दो०—प्रभु नारद संबाद कहि मारुति मिलन प्रसंग।
पुनि सुग्रीव मिताई बालि प्रान कर भंग॥
कपिहि तिलक करि प्रभु कृत सैल प्रबरषन बास।
बरनन बर्षा सरद अरु* रामरोष कपित्रास॥ ६६॥

अर्थ—प्रभु और नारदका संवाद और हनुमान्‌जीके मिलनेका प्रसङ्ग कहकर फिर सुग्रीवसे मित्रता और बालिके प्राणोंका नाश कहा। कपि सुग्रीवका राजतिलक करके जो प्रभुने प्रवर्षण पर्वतपर वास किया वह वर्षा और शरद्‌का वर्णन, श्रीरामजीका (सुग्रीवपर) क्रोध और कपि-(सुग्रीवादि-)का भयभीत होना वर्णन किया॥ ६६॥

नोट—१ *'प्रभु नारद संबाद.........'* इति। (क) *'प्रभु'* शब्दसे जनाया कि इस संवादभरमें ऐश्वर्यभाव

* 'बरनत बरषा सरद कर'—(का०)। 'सरद रितु'—पाठान्तर।

ही है। इस संवादमें 'प्रभु' शब्द आदिसे अन्ततक आठ बार आया है। नारदजी इसी भावसे दर्शनको गये और आदिसे अन्ततक यही भाव प्रभुमें रहा है। यथा—*'ऐसे प्रभुहि बिलोकउँ जाई।'* (३। ४१। ७)"""""*गए जहाँ प्रभु सुख आसीना। ८।""""""करत दंडवत लिए उठाई।"""""।'* (१०) *'नाना बिधि विनती करि प्रभु प्रसन्न जिय जानि। नारद बोले बचन तब जोरि सरोरुह पानि॥'* (४१) प्रभु भी उनसे उनके भावके अनुसार, उनको अपना भक्त जानकर वैसे ही व्यवहार करते हैं। इसी भावसे कहते हैं—*'जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरे।'* सारे संवादमें यह भाव है। यथा—*'तब नारद मन हरष अति प्रभु पद नाएउ माथ।'* (३। ४२), *'सिरु नाइ बारहि बार चरनन्हि ब्रह्मपुर नारद गए।'* (३। ४६) अतः *'प्रभु-नारद'* कहा। (ख) *'संबाद'* इति। इस मूल रामायणमें संवाद शब्द एक बार पूर्व भी आया है—*'कहेसि रामलछिमन संबादा।'* जैसे श्रीराम-लक्ष्मण-संवादमें अपूर्वता है, वैसे ही इसमें भी। जैसे वहाँ लक्ष्मणजीकी अनन्यता दर्शित की गयी है, वैसे ही यहाँ नारदजीकी रामनाममें अनन्यता दिखायी है। ये श्रीरामनामके ऋषि हुए। इन्होंने प्रभुसे वर माँगा—*'राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका॥ राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम। अपर नाम उडगन बिमल बसहु भगत उर ब्योम।'* (३। ४२) और प्रभुने यह वर उनको दिया। यथा—*'एवमस्तु मुनि सन कहेउ"""""।'* पुनः, संवादमें शंका-समाधान आदि भी होते हैं, जैसे भारद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवाद, उमा-शम्भुसंवाद, गरुड़-भुशुण्डि-संवादमें। वैसे ही यहाँ भी नारदजीके मनके सन्देहका निवारण किया गया कि *'राम सदा सेवक रुचि राखी'* प्रसिद्ध है तब मुझे विवाह क्यों न करने दिया? इस शंकाके द्वारा उन्होंने समाधान कराके विरक्तों तथा रामभक्तोंके लिये कल्याणका मार्ग दिखाया है। इस संवादमें प्रभुने श्रीमुखसे अपना स्वभाव—*'जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ।"""""'* कहा है, सेवकपर अपना ममत्व और प्रेम किस दर्जेका है यह बताया है। अतः इस संवादको पढ़-सुनकर अन्य जीव भी राम-सम्मुख हो भव पार होंगे। फिर सन्तोंके लक्षण भी पूछे और कहे गये हैं जिनसे प्रभु रीझते हैं। अतः इसे संवाद कहा। (ग) इस संवादसे अरण्यकाण्डकी कथाकी समाप्ति जनायी। यहाँ अरण्यकाण्ड समाप्त हुआ।

प्र० सं०—*'मारुति-मिलन प्रसंग'* अर्थात् वटुरूपसे उनका प्रभुके पास जाना, प्रश्नोत्तर, कपटवेशका त्याग होनेपर प्रभुका उनको हृदयसे लगाना और उनकी पीठपर सवार होकर सुग्रीवके पास आना। *'बालि-प्रान कर भंग।'* मित्रता होनेपर मित्रका दुःख सुन उसके दूर करनेकी प्रतिज्ञा करना, सुग्रीवको युद्ध करने भेजना, ताराका बालिको समझाना, इत्यादि।

नोट—२ *'मारुति-मिलन प्रसंग'* इति। मिलन शब्द इस मूल रामायणमें तीन बार आया है। पूर्व *'बालमीक प्रभु मिलन बखाना'* में फिर यहाँ और आगे *'सीता रघुपति मिलन बहोरी'* में। तीनों ही रामनामके अद्भुत जापक हैं। वाल्मीकिजी उलटा नाम जपकर ब्रह्म-समान हो गये। पवनसुतने नामसे प्रभुको वशमें ही कर लिया, यथा—*'सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥'* और श्रीसीताजीके सम्बन्धमें भी कहा ही है—*'सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरि नाम।'* (३। २९), *'नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निजपद जंत्रित जाहिं प्रान केहि बाट॥'* (५। ३०) वाल्मीकि-मिलन बखानकर कहनेके भाव पूर्व लिखे जा चुके हैं। मारुति बिछुड़े हुए प्रभुसे मिले, जिनकी राह वे जोहते रहे थे। उनका प्रसंग कहा कि सुग्रीवने डरकर उनको भेजा कि पता लें कि शत्रुपक्षके तो नहीं हैं। वे वटुरूपसे आये, प्रभुको पहचाना और कंधेपर चढ़ाकर ले आये। श्रीसीताजी भी बिछुड़े हुए प्रभुसे मिलीं, अतः वहाँ मिलना मात्र कहा।—यह किष्किन्धाकाण्डका आरम्भ हुआ।

३ *'पुनि सुग्रीव मिताई"""""'* इति। (क) *'पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ।'* (४। ४) इस तरह हनुमान्‌जीने दोनों ओरका समाचार कहकर दोनोंमें मित्रता करायी। सुग्रीव सखा बने। *'मिताई'* शब्दसे यह भी जनाया कि इसमें प्रभुने मित्रके लक्षण कहकर तब सुग्रीवकी विपत्ति हरनेकी प्रतिज्ञा की। इसी मित्रताके कारण उन्होंने बालिका वध किया। (ख) *'बालि प्रान कर भंग'* से *'लै सुग्रीव संग रघुनाथा।'* (४। ७। २५) से बालिकी मृत्युक्रियातक सब कथा जनायी। 'भंग' शब्द मानसमें बहुत बार आया है। यथा—*'भ्रकुटि भंग जो कालहि खाई।'* (६। ६५। २) *'बिनहि प्रयास होहिं भव भंगा।'* (७। ३३। ८), *'मम अनुचरन्ह कीन्ह मख

भंगा।' (५६। ४।), *'पुनि नृप बचन राज रस भंगा।'* (६५। १) इत्यादि। इस शब्दको देकर जनाया कि वह सहज ही मार डाला गया। इतना बली बालि एक ही बाणसे मर गया तथा उसको मरते समय कष्ट नहीं हुआ, यथा—*'बालि कीन्ह तनु त्याग। सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग।'* (४। १०) (ग) *'कपिहि तिलक करि'* इति। 'कपि' शब्दसे जनाया कि सुग्रीव तिलक होनेपर विषयी हो गये। स्त्री और राज्य पानेके लिये ही मित्रता की थी। अत: तिलक करके राज्य और स्त्री प्राप्त कर दिया। पर वे विषयमें पड़कर मित्रका कार्य भूल जायँगे। *'राम कहा अनुजहि समुझाई।'* (४। ११। ९) से *'अंगद सहित करहु तुम्ह राजू। संतत हृदय धरेहु मम काजू॥'* (४। १२। ९) तक यह प्रसङ्ग है।

४ (क) *'प्रभु कृत सैल प्रबरषन बास'* इति। 'प्रबर्षन' से दोनों बातें बतायी गयीं। एक तो यह कि विशेष वर्षाका समय आ गया, दूसरे 'प्रबर्षन' शैलका नाम भी था। यथा—*'राम प्रबर्षन गिरि पर छाए।'* (४। १२। १०) से लेकर *'मंगल रूप भयउ बन तब तें। कीन्ह निवास रमापति जब तें॥''''''''''कहत अनुज सन कथा अनेका।'* (४। १३। ७) तक यह प्रसङ्ग कहा। (ख) *'बरनन बर्षा सरद'*—यह प्रवर्षणगिरिपर वर्षा और शरद्का वर्णन हो रहा है। *'बरनन'* का भाव कि भगवान् वहाँ निवास करके जैसे-जैसे, वर्षाकालमें मेघ-गर्जन, मोरोंका नृत्य, वर्षा, बिजली आदि कार्य होते हैं वैसे-ही-वैसे भगवान् उनका वर्णन करते हुए उसीके द्वारा भक्ति, वैराग्य, राजनीति आदिकी कथाएँ और उपदेश कहते हैं। *'बरषाकाल मेघ नभ छाए।'* (४। १३। ८) से लेकर *'कबहुँ दिवस महँ निबिड़ तम''''''''''।'* (४। १५) तक वर्षा वर्णन है फिर *'बरषा बिगत सरद रितु आई।'* (४। १६। १) से इसी प्रकार शरद् ऋतुके सब अङ्गों तथा कार्योंका वर्णन करते हुए भक्ति आदिकी बातें कही गयी हैं। इस प्रकार चतुर्मास व्यतीत हुए। (ग) *'रामरोष कपित्रास'*-*'राम रोष'* का प्रसङ्ग *'बरषागत निर्मल रितु आई। सुधि न तात सीता कै पाई॥'* (४। १८। १) से प्रारम्भ होता है। 'राम' शब्द देकर सूचित किया कि *'राम सदा आनंद निधानू'* हैं, उन्हें रोष कहाँ, यह तो नरनाट्य मात्र है। यही बात शिवजीने उस प्रसङ्गमें कही है। यथा—*'जासु कृपा छूटहिं मद मोहा। ता कहुँ उमा कि सपनेहुँ कोहा॥ जानहिं यह चरित्र मुनि ज्ञानी। जिन्ह रघुबीर चरन रति मानी॥'* (४। १८) यह सब भाव 'राम' शब्दसे सूचित कर दिये। विशेष उस प्रसंगमें देखिये। *'कपि त्रास'* से वह प्रसङ्ग भी जना दिया। जो *'इहाँ पवनसुत हृदय बिचारा। रामकाज सुग्रीव बिसारा॥'* से *'चले सकल चरनन्हि सिर नाई'* तक (४। १९। १—७) में कहा गया है। श्रीहनुमान्‌जीने साम-दाम-भय-भेद चारों प्रकारसे सुग्रीवको समझाया है तब वह परम भयभीत हुए हैं। यथा—*'सुनि सुग्रीव परम भय पावा।'* यह जाना कि *'बिषय मोर हरि लीन्हेउ ज्ञाना।'* —यह 'कपि' शब्द भी बता रहा है। भय होनेसे तुरत उन्होंने दूतोंको बुलाकर वानरयूथपोंको बुलानेकी आज्ञा दी। पुन: *'कपि त्रास'* से लक्ष्मणजीको क्रोधवंत देखकर वानरोंको भी त्रास हुआ—*'क्रोध देखि जहँ तहँ कपि धाए।'* मुख्यत: यहाँ सुग्रीवका त्रसित होना अभिप्रेत है। *'क्रोधवंत लछिमन सुनि काना। कह कपीस अति भय अकुलाना॥'* (३। २०) *'कपि त्रास'* ही प्रधान है, इसीसे दूत वानरोंको बुलाने भेजे गये, इसीसे वे लक्ष्मणजीके साथ प्रभुके पास आये और विनय की कि वानरयूथ बुलाये गये हैं; आते ही होंगे। अत: और सब प्रसंग न कहकर केवल *'कपि त्रास'* कहा, इसीसे वानरयूथोंके आनेतककी सब कथा जना दी। 'रामरोष' यथा—*'जेहि सायक मारा मैं बाली। तेहि सर हतउँ मूढ़ कहुँ काली॥'* *'लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना।'* 'कपित्रास' यथा—*'क्रोध देखि जहँ तहँ कपि धाये'* *'ब्याकुल नगर देखि तब आएउ बालिकुमार'* *'कह कपीस अति भय अकुलाना।'*

जेहि बिधि कपिपति कीस पठाए। सीता खोज सकल दिसि धाए*॥ १॥
बिबर प्रबेस कीन्ह जेहि भाँती। कपिन्ह बहोरि मिला संपाती॥ २॥
सुनि सब कथा समीर कुमारा। नाघत भएउ पयोधि अपारा॥ ३॥
लंका कपि प्रबेस जिमि कीन्हा। पुनि सीतहि धीरजु जिमि दीन्हा॥ ४॥

---

* सीताषोजन सकल सिधाए—(का०)।

अर्थ—जिस प्रकार कपिराजने वानरोंको भेजा और वे सीताजीको ढूँढ़नेके लिये सब दिशाओंमें दौड़े गये॥ १॥ जिस प्रकार वानर बिलमें घुसे, फिर जैसे सम्पाती वानरोंको मिला॥ २॥ सब कथा सुनकर पवनसुत हनुमान्‌जी अपार सागरको लाँघे॥ ३॥ तथा जैसे वानरने लङ्कामें प्रवेश किया और फिर जैसे श्रीसीताजीको धैर्य दिया—वह सब कहा॥ ४॥

नोट—१ (क) *'जेहि बिधि..........'* भाव कि सुग्रीव सबके राजा हैं, अतः उन्होंने सबको आज्ञा दी, यह *'कपिपति पठाए'* से जनाया। यथा—*'ठाढ़े जहँ तहँ आयसु पाई। कह सुग्रीव सबहि समुझाई॥'* (४। २२। ५) समझाया कि *'राम काजु अरु मोरु निहोरा। बानर जूथ जाहु चहुँ ओरा॥ जनकसुता कहँ खोजहु जाई। मास दिवस महँ आएहु भाई॥ अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाएँ। आवहि बनिहि सो मोहि मराएँ॥'* यह समस्त वानरोंसे कहकर उनको भेजा है। यह *'जेहि बिधि..........'* है। दक्षिण दिशामें जिनको भेजा है उनको विशेष समझाया है। यथा—*'सुनहु नील अंगद हनुमाना।'* से *'जो रघुबीर चरन अनुरागी।'* (४। २३। १—७) तक। यह भी *'जेहि बिधि..........'* में है। (ख) *'सीता खोज सकल दिसि धाए'* यथा—*'बचन सुनत सब बानर जहँ तहँ चले तुरंत।'* (४। २२) *'आयसु माँगि चरन सिरु नाई। चले हरषि सुमिरत रघुराई॥'* (४। २३। ८) *'चले सकल..........।'* (४। २३)

२ *'बिबर प्रबेस कीन्ह जेहि भाँती..........।'* इति। दक्षिण दिशामें यह प्रसङ्ग बहुत कामका है, इसीके द्वारा वानरयूथ समुद्रतटपर पहुँचे जहाँ सम्पाती था, जिसने श्रीसीताजीका पता बताया। वहीं तपस्विनीसे भेंट हुई जिसने आशीर्वाद दिया। अतः यह प्रसङ्ग पूरा कहा कि उधर भेजे हुए वानर प्याससे व्याकुल हो गये थे—*'लागि तृषा अतिसय अकुलाने..........। मरन चहत सब बिनु जल पाना॥'* यह देख हनुमान्‌जीने पर्वत-शिखरपर चढ़कर चारों तरफ दृष्टि डाली तो एक विवर देखा जिसमेंसे पक्षी उड़कर आते तथा जाते थे। जलाशयका अनुमानकर सबने उसमें एक-दूसरेका हाथ या लूम पकड़कर प्रवेश किया। यथा—*'आगे कै हनुमंतहि लीन्हा। पैठे बिबर बिलंब न कीन्हा॥'* वहाँ स्वयंप्रभाका दर्शन हुआ, प्यास बुझी, फल खानेको मिले और उस तपस्विनीकी कृपासे सब आशीर्वाद पाकर समुद्रतटपर पहुँचे।

३ *'कपिन्ह बहोरि मिला संपाती'* इति। पूर्वचरणका *'जेहि भाँती'* दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर है। किस प्रकार सम्पाती मिलने आया यह प्रसङ्ग *'इहाँ बिचारहिं कपि मन माहीं। बीती अवधि काज कछु नाहीं॥'* (४। २६। १) से *'एहि बिधि कथा कहहिं बहु भाँती। गिरि कंदरा सुना संपाती॥'* (२७। १) तक है। अर्थात् अवधि बीत जानेसे सब समुद्रतटपर प्रायोपवेशनद्वारा प्राण छोड़नेकी ठानकर बैठे। जाम्बवान्‌जी सबको समझाने लगे। यह सब सम्पातीने पर्वतकंदरामें बैठे सुना तो यह समझकर कि बहुत वानर मरेंगे, मुझे बहुत दिनके लिये आहार मिला, वह कंदराके बाहर आया। अङ्गदके मुखसे जटायुका मरण रामकार्यार्थ सुनकर वह स्वयं वानरोंके निकट आया।—*'आवा निकट कपिन्ह भय मानी।'* इसीसे *'मिला संपाती'* कहा, वानर सम्पातीसे मिलने न गये थे, वह स्वयं अपने भाईकी सद्‌गति सुनकर इनसे मिला। वानरोंका उसे उठाकर समुद्रतटपर लाना, उसका भाईको तिलाञ्जलि देना, रामदूतके स्पर्शसे पंखोंका जमना आदि गौण कथाएँ हैं इससे उनको मूलमें न कहा, इसीमें लक्षित कर दिया।

४ (क) *'सुनि सब कथा'* अर्थात् जो सम्पातीने चन्द्रमा ऋषिकी भविष्यवाणी सुनायी, श्रीसीताजीका अशोकवृक्षतले लङ्कामें बैठे होना कहा और शतयोजन सागरपार जानेसे कार्य होना बताया—यह सब और फिर जाम्बवन्तसे यह जानना कि *'रामकाज लगि तव अवतारा।'* इत्यादि *'सब कथा'* है। यथा—*'सुनि मम बचन करहु प्रभु काजू'* और *'कहइ रिच्छपति सुनु हनुमाना'* इत्यादि। (ख) इस प्रसङ्गमें भी 'कथा' शब्द आया है। यथा—*'कहि निज कथा सुनहु कपि बीरा।'* (४। २८। १) यहाँसे लेकर *'राम हृदय धरि करहु उपाई।'* (४। २९। ४) तक सम्पातीके वचन हैं। वानरोंका अपना-अपना बल-कथन गौण है अतः मूलमें न कहा। (ग) यहाँ *'समीरकुमारा'* का सुनना कहा औरोंका नहीं। कारण कि कार्य तो इन्हींसे होना है, औरोंका सुनना गौण है, यद्यपि सम्पातीने सभीको सम्बोधन किया है, यथा—*'कहि निज कथा*

सुनहु कपि बीरा॥' (४। २८। १) सम्पातीने कहा था कि *'सुनि मम बचन करहु प्रभु काजू।'* प्रभुके कार्यके लिये पवनकुमारका अवतार है, यह बात जाम्बवन्तजीने इनसे कही, यथा—*'रामकाज लगि तव अवतारा।'* अर्थात् यह कार्य तुमसे ही होना है, यह सुनते ही वे पर्वताकार हो गये और समुद्रको लाँघ जानेको तैयार हो गये। जाम्बवान्‌जीने इनको पवनतनय कहकर इनका बल कहा है। और उल्लंघनके समय तो पवनसुत शब्द बारंबार आया है। अतः *'समीरकुमारा'* नाम मूलमें दिया। (घ) ☞ *'मारुति-मिलन-प्रसंग'* से *'सुनि सब कथा'* तक किष्किन्धाकाण्डकी कथाका कहना जनाया।

५ *'नाघत भएउ''''''''''।'* इससे लाँघनेमें जो विघ्न हुआ उनका निवारण करते हुए पार होना जना दिया। यहाँसे सुन्दरकाण्ड प्रारम्भ हुआ।

६ (क) *'लंका कपि प्रबेस जिमि कीन्हा'* अर्थात् अति लघुरूप धरकर नृहरिको सुमिरकर लङ्कामें जाना, लङ्किनीका ललकारना फिर उसका आशीर्वाद *'प्रबिसि नगर कीजै सब काजा',* सारी लङ्काको देखना, विभीषणसे भेंट और उनकी बतायी युक्तिसे श्रीसीताजीतक पहुँचना। 'कपि' शब्दसे जनाया कि कपिरूपसे ही सर्वत्र गये। वह अति लघुरूप भी कपि ही था। (ख) *'धीरजु जिमि दीन्हा'* कि *'कपिन्ह सहित ऐहहिं रघुबीरा'* इत्यादि, अपना रूप दिखाना, रघुनाथजीका सन्देश, वियोगविरह इत्यादि सब इसमें आ गया।—*'कह कपि हृदय धीर धरु माता। सुमिरु राम'* इत्यादि।

बन उजारि रावनहि प्रबोधी। पुर दहि नाघेउ बहुरि पयोधी॥ ५॥
आए कपि सब जहँ रघुराई। बैदेही की कुसल सुनाई॥ ६॥
सेन समेत जथा रघुबीरा। उतरे जाइ बारिनिधि तीरा॥ ७॥
मिला बिभीषन जेहि बिधि आई। सागर निग्रह कथा सुनाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**निग्रह**=अवरोध।=बंधन। रोक।=शिक्षा—(रा० प्र०)।=विरोध, यथा—**'निग्रहस्तद्विरुद्धः स्यादित्यमरः'** —(वै०)। अनुग्रहाभाव, नाराजगी।

अर्थ—(जिस प्रकार) अशोकवन उजाड़कर रावणको बहुत समझाकर, लंका नगर जलाकर फिर समुद्रको लाँघा॥ ५॥ (और फिर) सब वानर वहाँ आये जहाँ रघुकुलके राजा श्रीरामचन्द्रजी थे और वैदेही श्रीजानकीजीकी कुशल सुनायी॥ ६॥ जिस प्रकार सेनासहित रघुनाथजी जाकर समुद्रतटपर उतरे॥ ७॥ जिस प्रकार विभीषणजी आकर मिले (वह सब) और समुद्रका विरोध, तिरस्कार और उसपर क्रोध तथा उसके बन्धनकी कथा सुनायी॥ ८॥

नोट—१ (क) *'बन उजारि'* इति। यहाँ वनका उजाड़ना कहा। सम्पातीने कहा था कि *'तहँ असोक उपवन जहँ रहई। सीता बैठि सोच रत अहई॥'* (४। २८। १२) जब हनुमान्‌जी वहाँ गये तब कहा है कि *'करि सोइ रूप गयउ पुनि तहवाँ। बन असोक सीता रह जहवाँ॥'* (५। ८। ६) और जब वे रावणके सामने आये तब उसने पूछा है कि *'केहि के बल घालेहि बन खीसा।'* (५। २१। १) इसीसे *'बन'* का उजाड़ना कहा। वनमें वृक्ष बहुत होते हैं। वनका उजाड़ना कहनेमें बागमें फल खानेके मिषसे प्रवेश करना, रखवालोंके बर्जनेपर उनको वृक्षोंसे ही मारना, इत्यादिसे लेकर नागपाशमें बँधकर रावणके पासतक लाये जानेकी कथा जना दी। यह वन रावणको प्राणप्रिय था। (ख) *'रावनहि प्रबोधी'* इति। श्रीहनुमान्‌जीने *'रावन'* सम्बोधनसे ही समझाना प्रारम्भ किया है। यथा—*'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासुबल बिरचति माया॥'* (५। २१। ४) अतः मूलमें यहाँ *'रावनहि प्रबोधी'* कहा। पुनः भाव कि यह जगत्‌को रुलानेवाला था ऐसेको उन्होंने समझाया, तब भला वह क्यों सुनने लगा। *'बोला बिहँसि अधम अभिमानी। मिला हमहि कपि गुर बड़ ग्यानी॥'* (५। २४। २) पहले श्रीरामजीका ऐश्वर्य कहा कि उन्हींके बलसे त्रिदेव उत्पत्ति, पालन और संहारका कार्य करते हैं इत्यादि। फिर उसे विनयपूर्वक समझाया है। यथा—*'बिनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥'* (५। २२। ७) *'भजहु राम रघुनायक कृपासिंधु भगवान।'* (५। २३) तक (ग) *'पुर दहि'* से

रावणका वानरको मार डालनेकी आज्ञा देना, विभीषणका उसी समय आना और रावणको समझानेपर रावणका वानरकी पूँछमें आग लगाकर उसे पूँछहीन करनेकी आज्ञा देना और राक्षसोंका पूँछमें तेलमें बोर-बोरकर कपड़ोंको लपेटकर आग लगाना इत्यादि आनुषंगिक बातें भी कह दीं। प्रधान *'पुर दहन'* है, अतः इतना ही मूलमें कहा। *'पुर दहि नाघेउ बहुरि पयोधी'* इति। यथा—*'उलटि पलटि लंका सब जारी।'* (५। २६। ८) फिर पूँछ बुझाकर श्रीजानकीजीके पास जाकर उनसे चूड़ामणि चिह्न पाकर, उनका सन्देश लेकर और उन्हें समझाकर पार आये। यह सब भी जना दिया।—*'नाँघि सिंधु एहि पारहि आवा।'* *'बहुरि'* क्योंकि पूर्व एक बार लाँघकर आये थे। यहाँ *'बिधि'* शब्द नहीं दिया क्योंकि यहाँ उसका काम ही नहीं पड़ा।

२ (क) *'आए कपि………'* इति। लंकासे इस पार आनेपर सब वानरोंका वहाँसे श्रीरघुनाथजीके पास चलना, मधुवनमें सबका जाना, मधु फलका खाना, रखवालोंका सुग्रीवसे जाकर पुकार करना, सबका सुग्रीवके पास आना और सुग्रीवका सबको लेकर आना ये सब आनुषंगिक कथाएँ हैं, अतः उनको मूलमें न लिखकर मुख्य बात *'आए कपि सब जहँ रघुराई'* से उसको भी जना दिया। 'रघुराई' के पास आना कहा क्योंकि ये सुग्रीवके भी राजा हैं। (ख) *'बैदेही'* के भाव पूर्व कई बार आ चुके हैं। किसने सुनायी यह मूलमें नहीं कहा। जाम्बवन्तजीने पहले हनुमान्‌जीके चरित कहे। उनका वैदेहीको देख आना भी कहा। फिर रघुनाथजीके पूछनेपर हनुमान्‌जीने उनकी दशा और उनका संदेशा आदि कहा। और यह भी बताया कि रावणने एक मासकी अवधि दी है। वैदेहीकी कुशल सुनानेपर प्रभुका ऋणी बनना, हनुमान्‌जीको अनपायिनी भक्तिका वर देना आदि आनुषंगिक बातें उसीमें आ गयीं।

३ *'सेन समेत जथा रघुबीरा—'* इति। *'सेन समेत'* से ही जना दिया कि अन्य तीन दिशाओंके वानर भी आ चुके थे। पता लग गया इससे तुरत किष्किन्धासे प्रस्थान कर दिया गया। *'जथा'* से जनाया कि कोई आकाशमार्गसे, कोई भूमिमार्गसे चले, श्रीरामजीको हनुमान्‌जी लिये हैं और लक्ष्मणजी अङ्गदजीके कंधेपर हैं। सब श्रीरामजीका जय-जयकार कर रहे हैं, सेनाके भार और उछल-कूदसे शेषजी भी मोहित हो जाते हैं, इत्यादि।—*'एहि बिधि जाइ कृपानिधि उतरे सागर तीर।'* (५। ३५) तीर कहकर जनाया कि वहाँ रुके थे।

४ (क) *'मिला बिभीषन जेहि बिधि आई'* अर्थात् समझानेसे जब रावण न माना और इन्हें लात मारी तब ये सचिवोंसहित मनोरथ करते हुए आकाशमार्गसे इस पार आये, यहाँ प्रभुने शरणागत जान शरणमें रखा, इत्यादि सब कथा। (ख) *'सागर निग्रह कथा'* अर्थात् सागरसे तीन दिनतक मार्ग माँगना, उसका मार्ग न देना, रोष होनेपर उसका भेंट लिये आना इत्यादि। ☞*'नाघत भएउ पयोधि'* दोहा ६७ (३) से यहाँतक सुन्दरकाण्डकी सब कथा सूचित की।

दो०—सेतु बाँधि कपिसेन जिमि उतरी सागर पार।
गएउ बसीठी बीरबर जेहि बिधि बालिकुमार॥
निसिचर कीस लराई बरनिसि बिबिध प्रकार।
कुंभकरन घननाद कर बल पौरुष संघार॥६७॥

अर्थ—सेतु बाँधकर जिस प्रकार वानरोंकी सेना समुद्रपार उतरी और जिस प्रकार वीरश्रेष्ठ बालिपुत्र अङ्गद दौत्यकर्मके लिये (दूत बनकर) गये (वह सब कहा)। निशिचर-वानर-युद्ध अनेक प्रकारसे वर्णन किया। कुम्भकर्ण और मेघनादका बल, पुरुषार्थ और नाश कहा॥ ६७॥

नोट—१ *'सेतु बाँधि—'* अर्थात् नल-नीलद्वारा सेतुबंधनकी कथा, उसपरसे तथा आकाश और जलमार्गसे जलजन्तुओंपर चढ़कर सेनाका उतरना कहा। २—*'गएउ बसीठी जेहि बिधि—'* अर्थात् प्रातःकाल मन्त्रियोंके सम्मतसे अङ्गदका दूत बनकर रावणके पास जाना और उससे बातें करना, उसका मानभङ्ग करना, इत्यादि

सब कहा। *'बसीठी'* से जनाया कि दूतमें जो गुण होना चाहिये वह सब इनमें है। यह *'बालितनय बुधिबल गुन धामा। लंका जाहु तात मम कामा॥ बहुत बुझाइ तुम्हहिं का कहऊँ। परम चतुर मैं जानत अहऊँ॥'*(६। १७) इन वाक्योंसे स्पष्ट है। 'बसीठी' शब्द दौत्यकर्मके अर्थमें अन्यत्र भी आया है। यथा—*'दसमुख मैं न बसीठी आयउँ।'*(६। ३०। २) बसीठ=दूत। यथा—*'प्रथम बसीठ पठउ सुनु नीती।'*(६। ९। १०) *'तौ बसीठ पठवत केहि काजा।'*(६। २८। ७) बीरबर विशेषणसे जना दिया कि इन्होंने वहाँ बड़े वीरका काम भी किया। जाते ही रावणके एक लड़केको पटककर मार डाला। रावणके दरबारमें पहुँचनेपर भी *'धीर बीर बलपुंज', 'अतिबल बाँकुरा' 'जथा मत्त गजजूथ महुँ पंचानन चलि जाइ।'* (६। १९) आदि शब्दोंसे इनका वीरवर होना दिखाया है। इस शब्दसे जना दिया कि ये निडर होकर रावणके साथ बात करनेमें 'जैसे को तैसा' वाला व्यवहार बर्तें और अपने भुजदण्डोंको पटककर सभाभरको भयभीत कर दिया, रावणको खरी-खरी सुनायीं और अन्तमें *'सभा माझ पन करि पद रोपा॥'* लङ्काके इन्द्रजीत आदि समस्त सुभट जुट गये, कोई चरणको टसका भी न सका। *'कपि बल देखि सकल हिय हारे।'*(६। ३४। १) यह सब *'बीर बर'* से जनाया। *'बालि कुमार'* से जनाया कि बालिके समान ही बली है। उसने रावणको काँखमें दाबा तो इसने बीच सभामें इसका मान मथा। इसीसे प्रसंगमें आदि और अन्त दोनोंमें यह सम्बन्ध दिया। यथा—*'रन बाँकुरा बालिसुत बंका।'* (६। १८। १) *'गयउ सभा मन नेकु न मुरा। बालि तनय अति बल बाँकुरा॥'* (६। १९। ८) *'रिपु मद मथि प्रभु सुजस सुनायो। यह कहि चल्यो बालि नृप जायो।—।', 'रिपुबल धरषि हरषि कपि बालितनय बलपुंज।'*(६। ३४)

'गएउ बसीठी—' के प्रसंगसे ही मन्दोदरीने फिर रावणको समझाया। दौत्यकर्म करके अङ्गदके लौटनेपर यह जान लेनेपर कि रावण जीते-जी श्रीजानकीजीको न देगा, युद्धकी तैयारी करना उसीके आनुषंगिक कार्य हैं। अत: ये सब बातें भी *'गएउ बसीठी—'* में ही जना दीं।

३ (क) *'निसिचर कीस लराई—'*—से जना दिया कि युद्ध अनिवार्य हुआ। अत: लङ्काके चारों फाटकोंपर युद्धके लिये चार दल बनाये गये और युद्धके लिये भेजे गये। रावणके योद्धा कोटपरसे युद्ध करते थे, वानर-सुभट भी ऊपर चढ़ गये इत्यादि। *'नानायुध सरचाप धर—।'* (६। ३९) से *'निसा जानि कपि चारिउ अनी। आए जहाँ कोसला धनी।'*(६। ४७। १) तक प्रथम निशिचर-कीश-युद्ध हुआ। (ख) *'बिबिध प्रकार'*—यथा *'निसिचर सिखर समूह ढहावहिं। कूदि धरहिं कपि फेरि चलावहिं॥'* इत्यादि। *'कपि भालु चढ़ि मंदिरन्ह—।' 'एक एकु निसिचर गहि पुनि कपि चले पराइ। ऊपर आपु हेठ भट गिरहिं धरनि पर आइ।'*(६। ४०) इत्यादि; फिर रावणके उग्रवचन सुनकर राक्षसोंका प्राणका लोभ छोड़कर लड़ना और वानरोंका आतुर हो भागना, श्रीहनुमान्‌जी और अङ्गदजीका सहायक होना, निशिचरसेनाको मथ डालना। ६। ४१। ६ से ४५। ३ तक; निशिचरोंका प्रदोष-बल पाकर फिर लड़ना, अनिप-अकंपनादिका माया करके वानरोंमें खलबली मचा देना, श्रीरामजीका हनुमान्-अङ्गदको भेजना और मायाको काटकर प्रकाश करना, राक्षसोंका मारा और समुद्रमें फेंका जाना इत्यादि दोहा ४६ तक। इत्यादि 'विविध प्रकार' है। राम-रावण, राम-कुम्भकर्ण, लक्ष्मण-मेघनाद, लक्ष्मण-रावण आदि युद्धोंको छोड़कर अन्य सब निशिचर-कीश-युद्ध इसमें आ जाते हैं।

४ *'कुंभकरन घननाद—'* इति। (क) कुम्भकर्णका बल, यथा—*'अंगदादि कपि मुरुछित करि समेत सुग्रीव। काँख दाबि कपिराज कहुँ चला अमित बल सींव॥'* (६। ६४) *'मुरे सुभट सब फिरहिं न फेरे'* इत्यादि। (६। ६६। ४) से दोहा ६९ तक बल-पौरुष सर्वत्र देख लीजिये। श्रीरामजीने उसका संहार किया। (६। ६९। ५) से (७०। ७) तक। (ख) घननादका बल-पौरुष—*'उतर्यो बीर दुर्ग ते सम्मुख चल्यो बजाइ।'* (६। ४८) से *'सिंहनाद करि गर्जा मेघनाद बल धीर।'*(४९) तक इत्यादि उदाहरण हैं। इसको मायाका बल विशेष था। श्रीलक्ष्मणजीने दूसरे युद्धमें इसका वध किया। घननाद बल-पौरुषमें लक्ष्मणजीको शक्ति, श्रीरामजीका नागपाश-बन्धन आदि आनुषङ्गिक प्रसङ्ग आ गये, इसीसे मूलमें उन्हें नहीं कहा।

निसिचर निकर मरन बिधि नाना। रघुपति रावन समर बखाना॥ १॥
रावनबध मंदोदरि सोका। राज बिभीषन देव असोका॥ २॥
सीता रघुपति मिलन बहोरी। सुरन्ह कीन्हि अस्तुति कर जोरी॥ ३॥
पुनि पुष्पक चढ़ि कपिन्ह समेता। अवध चले प्रभु कृपानिकेता॥ ४॥

अर्थ—नाना प्रकारसे राक्षससमूहका मरण और श्रीरघुनाथजी और रावणका अनेक प्रकारका युद्ध वर्णन किया॥ १॥ रावणवध, मन्दोदरीका शोक, विभीषणका राज्य (प्राप्ति) और देवताओंका शोकरहित होना (कहकर)॥ २॥ फिर सीता-रघुपति मिलाप और जो देवताओंने हाथ जोड़कर स्तुति की थी (वह) कही॥ ३॥ फिर वानरोंसमेत पुष्पकपर चढ़कर दयाके स्थान प्रभु श्रीरामचन्द्रजी अवधपुरीको चले (यह कहा)॥ ४॥

नोट—१ *'मरन बिधि नाना।'* कोई घूँसोंसे मरे, बाणोंसे मरे, कोई पैरसे कुचल डाले गये, कोई हाथोंसे मसल डाले गये, कोई आपसमें टकराये जाकर मारे गये, किसीका सिर धड़से मरोड़कर निकाल लिया गया, कोई घायल होनेपर जीते ही गाड़ दिये गये, कोई समुद्रमें जलजन्तुके आहार हुए इत्यादि। *'नाना भाँति'* से मरण कहा। यथा—*'लागै मरदै भुजबल भारी', 'काहुहि लात चपेटन्हि केहू'* (६। ४३); *'एक एक सों मर्दहिं तोरि चलावहिं मुंड।'*(लं० ४३) *'महा महा मुखिया जे पावहिं। ते पद गहि प्रभु पास चलावहिं॥'; 'भागत भट पटकहिं धरि धरनी।—गहि पद डारहिं सागर माहीं॥—।'*(६। ४६। ७-८) *'मारहिं काटहिं धरहिं पछारहिं। सीस तोरि सीसन्ह सन मारहिं॥ उदर बिदारहिं भुजा उपारहिं। गहि पद अवनि पटकि भट डारहिं॥ निसिचर भट महि गाड़हिं भालू। ऊपर डारि देहिं बहु बालू॥'*(६। ८०। ५—७) *'मारहिं चपेटन्हि डाँटि दाँतन्ह काटि लातन्ह मीजहीं।—धरि गाल फारहिं उर बिदारहिं गल अँतावरि मेलहीं॥'* (८० छं०) *'जहँ तहँ चले बिपुल नाराचा। लगे कटन भट बिकट पिसाचा॥ कटहिं चरन उर सिर भुजदंडा। बहुतक बीर होहिं सतखंडा॥'* (लं० ६७) दोहा ४३ से ६७ तक रावण-युद्धप्रसङ्ग नहीं है, पर-उदाहरण *'नानाबिधि निसिचर मरन'* दिखानेके लिये वहाँके उद्धरण भी दे दिये हैं।

नोट—२ *'रघुपति रावन समर बखाना'* इति। यहाँ दोनोंका नाम देकर जनाया कि जब सब राक्षससेनाका संहार हो गया, रावण अकेला रह गया तब केवल इन दोनोंका युद्ध हुआ। राम-रावण-समरकी उपमा राम-रावण-समर ही है, दूसरी नहीं। यह युद्ध दिन और रात दोनोंमें लगातार कई दिनतक हुआ है। अत: इसको बखानकर विस्तारसे कहा और जो इसके पूर्व सेना रहते युद्ध हुआ वह गौण है। उसे संक्षेपसे कहा—यह यहाँ *'बखाना'* शब्दसे ही जना दिया। रावण जगत्‌को रुलानेवाला था उससे *'रघुपति'* ही लड़ सकते थे। यह प्रसङ्ग *'श्रीराम रावन समर—।'*(६। १००) तक है।

३ (क) 'रावण-वध' प्रसङ्ग ६। १०१। १ से आरम्भ होता है। रण-क्रीड़ा समाप्त हुई। *'मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेषा। राम बिभीषन तन तब देखा॥'*, विभीषणने बताया कि इसके नाभिकुण्डमें अमृत है, इसीके बलसे यह जीवित है। तब उन्होंने एक बाणसे नाभिकुण्डको सोख लिया, फिर उसके और बाहु काटे, धड़के दो टुकड़े कर दिये। इस तरह उसका वध हुआ। बाण सिर और बाहुको मन्दोदरीके सामने रखकर लौट आये और प्रभुके तरकशमें प्रवेश कर गये। रावणके शरीरसे तेज निकल प्रभुके मुखमें समा गया। (ख) *'मंदोदरि सोका'*—मन्दोदरी पटरानी है, इससे उसीका नाम दिया। उसका ही नाम प्रसिद्ध भी है। *'पति सिर देखत मंदोदरी।'*(६। १०३) से *'अहह नाथ—'*(१०३) तक। इसीके अन्तर्गत रावणकी क्रिया भी आ गयी। *'सोका'* से यह भी जना दिया कि इनके शोकको देखकर विभीषण भी दु:खी हो गये। (ग) *'राज बिभीषन'*—समुद्रतटपर तिलक कर दिया था, अब रावणका कुलसहित नाश करके इनको राजगद्दीपर बिठाया। विभीषण भक्त हैं, इनके राजा होनेसे देवताओंपर आक्रमण अब न होगा, अत: देवता शोकरहित हुए।

४ (क) *'सीता रघुपति मिलन'* अर्थात् हनुमान्‌जीका उनको समाचार देना, फिर विभीषणादिका उनको सादर शिविकामें सवार कराकर लाना, वानरोंका दर्शन करना, मायासीताका अग्निमें प्रवेश करना और अग्निका

असली सीताको लाकर रघुनाथजीको समर्पण करना इत्यादि सब कथा कही। (ख) सीताहरण-प्रसङ्गको कहा था—'*पुनि माया सीता कर हरना*'; पर यहाँ 'माया' शब्द नहीं देकर '*सीता रघुपति मिलन*' कहते हैं। ऐसा करके जना दिया कि माया-सीताको उन्होंने नहीं ग्रहण किया, असली सीता जब अग्निसे प्रकट हुईं और अग्निदेवने उनको लाकर श्रीरघुनाथजीको समर्पण किया तब इनका ग्रहण किया, वामदिशामें बिठाया। '*धरि रूप पावक पानि गहि श्री सत्य श्रुति जग बिदित जो। जिमि छीरसागर इंदिरा रामहिं समर्पी आनि सो। सो राम बाम बिभाग राजति रुचिर अति सोभा भली।*' (६। १०८ छन्द) इस तरह केवल 'सीता' शब्द देकर उसके पूर्वकी सम्बन्धी कथा भी लक्षित कर दी। मुख्य 'सीता' जीका ही मिलन है जो साथमें अवधको जायँगी, अत: उन्हींको कहा। '*बहोरी*' से यह भी जनाया कि जैसे पूर्व (सीताहरणके पहले) साथ थीं वैसे ही अब पुन: साथ हो गयीं, बीचमें प्रत्यक्षमें वियोग रहा। (ग) '*सुरन्ह कीन्हि अस्तुति*—' इति। देवता स्वार्थसिद्धिसे प्रसन्न हुए, अत: स्तुति करने आये हाथ जोड़े। यथा—'*आए देव सदा स्वारथी।*' (६। १०९। १) से '*करि बिनती सुर सिद्ध सब रहे जहँ तहँ कर जोरि।*' (१०९) ब्रह्मा, शिव और इन्द्रने भी स्तुति की, इन्द्रने सेवा माँगी और आज्ञा पाकर वानर-भालुओंको जिला दिया, यह सब इतनेसे जना दिया।

५—'*पुनि पुष्पक चढ़ि*—' इति। (क) '*पुनि*' अर्थात् जब समस्त देवता स्तुति करके चले गये और वानर-भालु जीवित हो गये तब (ख) पुष्पकपर चढ़नेसे ही विभीषणजीका प्रभुके पास आकर नगरमें चलने और विश्रामके लिये प्रार्थना करना, श्रीरामजीका उनको श्रीभरतजीकी दशा कहकर अवधिके बीतनेके पूर्व ही अवधतक पहुँच जानेकी आतुरता प्रकट करना और उनसे उसका प्रयत्न करनेकी प्रार्थना करना; यथा—'*भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥*—*देखौं बेगि सो जतन करु सखा निहोरउँ तोहि।*—(११५)', और विभीषणजीका पुष्पकविमान लाकर समर्पण करना—यह सब प्रासङ्गिक बातें भी जना दीं। (ग) '*कपिन्ह समेता*'—पहले वानरी सेनाको विदा कर दिया, फिर '*अतिसय प्रीति देखि रघुराई। लीन्हे सकल बिमान चढ़ाई॥*' (६। ११८। १) अत: '*कपिन्ह समेता*' कहा। प्रधानता इन्हींकी है, इससे इनका नाम दिया। नहीं तो हैं तो विभीषण आदि भी साथ अथवा सुग्रीव, विभीषण आदिको साथ लिया ही था, इनको पीछे साथ लिया, इससे इनका ही नाम दिया। (घ) '*अवध चले*', यथा—'*उत्तर दिसिहि बिमान चलायो।*' (६। ११८। २) (ङ) '*कृपानिकेता*'—विभीषणपर कृपा की और भरत तथा अवधवासिमात्रपर कृपा करके अवधको आये; अत: कृपानिकेत कहा।

☞'*सेतु बाँधि कपिसेन जिमि उतरी।*' (६७) से यहाँतक लङ्काकाण्डकी समस्त कथाका कहना सूचित किया।

जेहि बिधि राम नगर निज आए*। बायस बिसद चरित सब गाए॥५॥
कहेसि बहोरि राम अभिषेका। पुर बरनत† नृपनीति अनेका॥६॥
कथा समस्त भुसुंडि बखानी। जो मैं तुम्ह सन कही भवानी॥७॥

अर्थ—जिस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी अपने नगरको आये, वह सब निर्मल उज्ज्वल चरित काकभुशुण्डिने वर्णन किये॥ ५॥ फिर रामराज्याभिषेक कहा। पुर और अनेक प्रकारकी राजनीतिका वर्णन करते हुए॥ ६॥ हे भवानी! भुशुण्डिजीने वह सब कथा कही जो मैंने तुमसे विस्तारसे कही॥ ७॥

नोट—१ '*जेहि बिधि राम नगर निज आए*' अर्थात् लङ्कासे चलकर भरद्वाजजीके यहाँ उतरकर श्रीहनुमान्जीको श्रीअवध भेजा, फिर वहाँसे निषादराजके यहाँ आकर ठहरे। श्रीहनुमान्जीने श्रीभरतजीको समाचार दे और उनका कुशल-समाचार ले प्रभुको जा सुनाया तब वे विमानपर श्रीअवध आये इत्यादि। २—'*बिसद चरित सब गाए।*' भाव कि प्रभुके सब चरित निर्मल हैं। यथा—'*गिरिजा सुनहु बिसद यह कथा। मैं सब कही मोरि मति जथा॥*'—(५१)। ३—'*कहेसि बहोरि राम अभिषेका*' अर्थात् सबसे यथायोग्य भेंट-मिलाप इत्यादि हो चुकनेपर वसिष्ठजीने जैसे विप्रोंसे राज्यसिंहासनासीन होनेकी आज्ञा देने और सुमन्तसे

* निअराए—का०। † 'बरनत'—का०, भा० दा०। आधुनिक पाठ 'बरनन' है।

तैयारी करनेको कहा, इत्यादि सब प्रसङ्ग कहा। **बहोरि**=तत्पश्चात्। बहोरिका दूसरा भाव यह भी है कि एक बार राज्याभिषेक-प्रसङ्ग कुछ कहा था पर उस समय राजरस-भङ्ग हो गया था, अब पुनः कहा। ४—*'पुर बरनत नृपनीति अनेका'* से राज्याभिषेकके समयसे लगभग १२००० वर्ष राज्यकी कथा जना दी। ☞ इन छः चरणोंसे उत्तरकाण्डकी रामचरितमानसकी कथा जना दी।

☞ प्राचीन कवियोंकी शैली है कि वे ग्रन्थकी एक सूक्ष्म सूची ग्रन्थमें कहीं-न-कहीं दे देते हैं, जिससे समस्त ग्रन्थका विषय संक्षेपसे मालूम हो जाय, इतना ही नहीं वरन् वह ग्रन्थकी संख्या भी दे देते हैं, वैसे ही यहाँ रामचरितमानसकथाका खुलासा (मूल प्रसङ्ग-सूची) भुशुण्डिजी वा शिवजी-द्वारा कविने कहलाया है। इसमें जो बातें कही गयी हैं, उनका तात्पर्य यह नहीं है कि वे ग्रन्थमें कहे हुए प्रसङ्गोंके शीर्षक हैं। यदि ऐसा अभिप्राय कविका होता तो वह यहाँ पूर्ण क्रियाओंका प्रयोग करता और मानसमें कही हुई जितनी बातें हैं किसीको यहाँ न छोड़ता। जलन्धर, जय-विजय, मनु-शतरूपा, प्रतापभानु, अहल्योद्धार, नगर-दर्शन, पुष्पवाटिका, परशुराम, जनकका चित्रकूट जाना, सनकादिकका श्रीरामजीसे एकान्त-मिलन, शीतल अमराई, नारदका आगमन इत्यादि प्रसङ्ग कदापि न छोड़े जाते। *'कथा समस्त भसुंडि बखानी। जो मैं तुम्ह सन कहा भवानी॥'* स्पष्ट प्रमाण है कि भुशुण्डिजीने ये सब कथाएँ कहीं। तथापि कुछ टीकाकारोंने इस विचारसे कि इस मूलमें सारी कथा आ गयी है, इसके अनुसार सारे मानसका विभाग किया है और यहाँ दिये हुए संक्षिप्त वर्णनको शीर्षक मानकर प्रकरण लगाया है कि इसके अनुसार कहाँसे कहाँतककी कथा इसमें समाविष्ट समझी जानी चाहिये। मानसपीयूषमें भी उन लोगोंके विचारके अनुसार प्रकरण दिखला दिये गये हैं। अतः अब यहाँ वे दोहराये नहीं जाते।

☞ श्रीरामायणी रामसुन्दरदासजी कहते हैं कि इस मूलमें ८४ प्रसङ्ग हैं। इतने प्रसङ्गोंमें सारी कथाका विभाग करनेका भाव यह है कि इसके पाठसे 'चौरासी' भोगसे अर्थात् भवबन्धनसे छुटकारा मिलता है। कोई ९२ और कोई ९३ जोड़ते हैं। विशेष आवश्यक न समझकर इसपर कोई विचार नहीं किया जाता।

सुनि सब रामकथा खगनाहा। कहत बचन मन परम उछाहा॥८॥

सोरठा—गयउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित।
भएउ राम पद नेह तव प्रसाद बायस तिलक॥
मोहि भएउ अति मोह प्रभुबन्धन रन महुँ निरषि।
चिदानंदसंदोह राम बिकल कारन कवन॥६८॥

अर्थ—सब रामकथा सुनकर पक्षिराज मनमें परम उत्साहित होकर ये वचन बोले—॥८॥ श्रीरघुनाथजीका सब चरित मैंने सुना। मेरा संदेह जाता रहा और श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें प्रेम हुआ। हे काकशिरोमणि! यह सब आपकी कृपासे हुआ। युद्धमें प्रभुका नागपाशद्वारा बन्धन देखकर मुझे अत्यन्त मोह हुआ कि श्रीरामजी तो चित् और आनन्दकी राशि हैं वे किस कारण व्याकुल हैं॥ ६८॥

नोट—१ *'कहत बचन मन परम उछाहा'* इति। यहाँ वक्ता और श्रोता दोनोंको समशील दिखाया। भुशुण्डीजीको कथा कहनेमें *'परम उछाह'* हुआ था—*'भयउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहै रघुपति गुनगाहा॥'* (६४। ६) गरुड़को सुननेसे *'परम उछाह'* हुआ।

☞ यहाँ शिवजीके वचनोंका चरितार्थ वा साफल्य दिखाया।

पं० रा० व० श०—१ यह प्राचीन शैली है कि ग्रन्थका तात्पर्य प्रथम थोड़ेमें कह दिया जाता है, जिसमें उतनेका पाठ कर लेनेसे समग्रके पाठका फल हो जाय। २—*'गएउ मोर संदेह'* इति। यह चित्त देकर रामचरित सुननेका फल दिखाया। यदि कथाश्रवणसे मोह न दूर हुआ और श्रीरामपदारविन्दमें प्रेम न हुआ तो समझना चाहिये कि कथा सुनी ही नहीं, दिखावमात्रके लिये कथामें बैठते रहे। पुनः [*'बायस*

तिलक' पदका भाव कि वायसकुल अत्यन्त मलिन है सो आपने उस कुलको भी पूज्य और प्रशंसनीय बना दिया। (रा० शं० श०)। *'तव प्रसाद बायस तिलक'*, यह श्रोताकी कृतज्ञता है। यह भी जनाया कि शिष्टलोग कथाश्रवणपर वक्ताकी प्रशंसा, कृतज्ञता सूचित करनेके लिये करते हैं] ३—*'मोहि भएउ अति मोह।'* अर्थात् औरोंको मोह ही होता है, मुझे 'अति मोह' हुआ। [*'अति मोह'* इति। भगवानों, ईश्वरोंके चरितमें संदेह मोह है, और सच्चिदानन्दघन परात्पर ब्रह्मके चरितमें *'अति मोह'* है। यहाँ *'चिदानंदसंदोह राम'* (दोहा ६८), *'ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा॥'* (६८। ७) में मोह हुआ है। यही 'महामोह' है। (करु०)] ४—*'चिदानंदसंदोह'* अर्थात् सबके आनन्दकी सीमा हैं, इनका आनन्द घट ही नहीं सकता। अतः संदेह हुआ कि तब विकल कैसे?

नोट—२ *'राम बिकल……'* से स्पष्ट किया कि इनको श्रीरामजीके सच्चिदानन्दसंदोह होनेमें संदेह नहीं है, इसमें संदेह नहीं है कि ये व्यापक परात्परब्रह्म हैं, यथा—*'भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम। खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम॥'* (५८) संदेह इतना मात्र है कि ऐसे होते हुए वे विकल क्योंकर हैं? चिदानन्दसंदोह और विकलमें विरोध है। दोनों एक साथ कैसे? इसीसे कहा है कि *'मोहि भएउ अति मोह प्रभु बंधन……'*, अर्थात् मोह यही है कि ऐसे समर्थमें निसिचरद्वारा *'बंधन'* नहीं घटित हो सकता पर बन्धन आँखों देखा है। 'प्रभु' का भाव कि *'भव बंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम'* ऐसा समर्थ सो स्वयं कैसे बन्धनमें पड़ा?

देखि चरित अति नर अनुसारी। भयेउ हृदय मम संसय भारी॥ १॥
सोइ भ्रम अब हित करि मैं माना*। कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना†॥ २॥
जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानै सोई॥ ३॥

अर्थ—मनुष्योंके अत्यन्त सदृश चरित देखकर मेरे हृदयमें भारी संदेह हुआ॥ १॥ अब उसी भ्रमको मैं अपना हित करके मानता हूँ। यह दयासागरने मुझपर बड़ी कृपा की॥ २॥ जो अत्यन्त (सूर्यकी) तपन (धूप) से व्याकुल होता है वही वृक्षकी छायाका सुख जानता है‡॥ ३॥

वि० त्रि०—*'नट इव कपट चरित कर नाना। सदा स्वतंत्र राम भगवाना॥'* नर-शरीर धारण किया है, अतः मनुष्यके ऐसा चरित्र तो बराबर करते ही आते हैं, परंतु सरकारके चरित्रमें ऐसा उत्कर्ष है कि ऐश्वर्यकी झलक भी बराबर मिलती ही आती है, परंतु कहीं-कहीं ऐश्वर्यकी झलक एक-बारगी नहीं मिलती, यही *'अति नर अनुसारी चरित'* है, वहाँ बड़े-बड़ोंको मोह हो जाता है। सीतान्वेषण-प्रसङ्गमें उमाको मोह हो गया। इसी भाँति नागपाश-बन्धन-प्रसङ्गमें गरुड़जीको मोह हो गया, क्योंकि यहाँ भी ऐश्वर्यकी कुछ भी झलक नहीं थी, अति नर-अनुसारी चरित था।

पं० रा० व० श०—*'अति नर अनुसारी'* का भाव कि ऐसा कोई न होगा जिसका चरित्र इनका-सा कमजोर हो।

रा० शं० श०—*'अति नर अनुसारी चरित देखा'* अतएव 'भारी' संशय हुआ।

नोट—१ ☞ गरुड़जीके इन वाक्योंमें *'अति'* की आवृत्तियाँ हैं। अतिका सम्बन्ध सारे मोह-प्रसङ्गमें दिखाते हैं—

(१) *मोहि भयउ अति मोह* (६८) (२) *देखि चरित अति नर अनुसारी* (३) *भयउ हृदय मम संसय भारी* (४) *जो अति आतप ब्याकुल होई* (५) *जौं नहिं होत मोह अति मोही* (६) *अति बिचित्र*

---

* जाना (का०)।

† क्रिपानिधाना—(भा० दा०)। कृपानिधाना—(का०)

‡ वीर—भ्रमरूपी दोष अङ्गीकार करनेयोग्य नहीं, किंतु भुशुण्डिजीका समागम उसके द्वारा सुलभ हुआ इससे उसे हितकर मानना 'अनुज्ञा' अलङ्कार है। 'जो अति आतप………' में 'प्रत्यक्ष प्रमाण' अलङ्कार है।

बहुबिधि तुम्ह गाई (७) *पुलक गात लोचन सजल मन हरषेउ अति काग।* (८) *पाइ उमा अति गोप्यमपि सजन करहिं प्रकाश॥ ६९॥*

'अति' की आवृत्तिका भाव—*'अति नर अनुसारी'* चरित किया, अतः *'अति मोह'* वा भारी संशय हुआ।*'भारी संसय'* प्रथम कहकर फिर *'अति मोह'* पद देनेसे दोनों पर्याय जनाये। *'अति मोह'* होनेसे *'अति'* विचित्र सुहावनी हरिकथा सुननेको मिली।—गरुड़जीकी अतिकी उक्तियोंसे भुशुण्डिजीको भी अति हर्ष हुआ। शिवजीने भी इसी आनन्दमें *'अति'* पदका ही प्रयोग किया। शेष भाव चौपाइयोंमें आ गये हैं।

'अति नर अनुसारी' कहकर *'भारी संसय'* वा *'अति मोह'* कहनेका भाव कि *'नर अनुसारी'* होते तो *'अति मोह'* न होता, साधारण मोह होता जो अपनी ही बुद्धिसे छूट जाता। *'संसय भारी'* का भाव कि वह अपने बहुत समझानेपर भी न मिट सका था, यथा—*'नाना भाँति मनहिं समुझावा। प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा॥'* (५९। १)

२—पहले साधारण बात कही कि *'मोहि भएउ अति मोह।'* फिर उसका कारण कहा *'देखि चरित अति नर अनुसारी। भयेउ हृदय मम संसय भारी॥'* भारी संशय नाश करनेवाला होता है, यथा—*'संशयात्मा विनश्यति'*; *'अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं॥'* (१। ११९। ६) इस नाशसे प्रभुने बचाया, कृपा करके सत्सङ्ग किया। तात्पर्य कि मोहका कारण कहकर फिर उस मोहमें श्रीरामजीकी अपने ऊपर कृपा दिखायी, यथा—*'सोइ भ्रम अब हित करि मैं जाना। कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना॥'* फिर कृपाका फल भुशुण्डिदर्शन कहा—*'मिलतेउँ तात कवन बिधि तोही।'* सन्त-मिलन कृपाका फल है, यह वे स्वयं आगे कहते हैं। फिर उस फलका फल हरिकथा-श्रवण कहा। तब इसका फल मोहनाश और उससे रामपद-नेह कहा।-यह क्रम कहा गया।

नोट—३ *'सोइ भ्रम अब हित······'* इति। इससे जनाया कि इसके पूर्व मैं यह न समझता था कि यह भ्रम (मोह) मेरे हृदयमें मेरे हितके लिये उत्पन्न किया गया था। पुनः भाव कि—संशय होनेपर 'अहित' समझता था; क्योंकि उसने व्याकुल कर दिया था, यथा—*'भयेउ मोहबस तुम्हरिहि नाईं। ब्याकुल गएउ देवरिषि पाहीं॥'* (५९। २-३) अब सत्सङ्गादिका सुख पानेपर 'हित' माना।

पं० रा० व० श०—*'कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना।'* इस कृपालुताका संकेत शिवजी पहिले ही कर चुके हैं, यथा—*'रघुपति कृपा मरम मैं पावा। होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना॥'* (६२। ७-८)

नोट—४ *'कीन्ह अनुग्रह'* में यदि संदेह हो कि भला मोहमें डालना यह कौन कृपा है? तो उसपर कहते हैं कि *'जो अति आतप ब्याकुल होई।'* अर्थात् जिसको ताप नहीं व्यापा, जैसे कि खसकी टट्टियोंमें रहनेवाला जिसपर पंखे झल रहे हैं, वह तरुछायाके सुखको क्या जाने? वही यदि धूपकी गर्मीसे व्याकुल हुआ हो, पसीना चल रहा हो तो वृक्षकी छायाका क्या सुख है, यह यथार्थ समझ जाता है। वैसे ही जब संसारसे किसीको अत्यन्त व्याकुलता होती है तब उस सत्सङ्गका सुख मालूम पड़ता है। जबतक संसार बढ़ता है तबतक सत्सङ्गका सुख नहीं मिलता। भगवान्‌की कृपाका यह लक्षण है—**'ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि वित्तं तस्य हराम्यहम्।'**

पं०—*'तरु छाया सुख······'* का भाव कि जिसे भ्रम होता है वही भ्रमनिवारणहारी सङ्गतिका विशेष सुख जान सकता है।

रा० शं०—**आतप**=धूपकी गर्मी, यथा—*'सरदातप निसि ससि अपहरई।'* जिसको मोह या भ्रम न हुआ हो, वह कथाके यथार्थ सुखको क्या जाने? गोकर्णने जब भागवत सुनायी तब धुन्धकारीहीने खूब मन लगाकर सुनी और उसीको सबसे अधिक फल मिला, वह यह कि वह सब पापोंसे छूटकर, प्रेतयोनिसे मुक्त हो गया।

नोट—५ *'जो अति आतप ब्याकुल होई······'* इति। (क)—यहाँ *'अति मोह'* वा *'भारी संसय'* *'अति आतप'* है। *'अति आतप'* का भाव कि साधारण घामकी तपनसे अधिक कष्ट नहीं होता, इससे उसमें तरुछायाका यथार्थ सुख नहीं जाना जा सकता। (ख) *'तरुछाया सुख'* क्या है? तरु संत हैं,

तरुकी छाया सत्सङ्ग-कथा है, छायाका सुख मोहनाश और रामपदनेह है। ये तीनों बातें प्रकरणमें गरुड़जीने दिखायी हैं—*'मिलतेउँ तात कवन बिधि तोही'*, *'रामकृपा तव दरसन भएऊ'*, *'सुनतेउँ किमि हरिकथा सुहाई। ——।'* और *'तव प्रसाद सब संसय गएऊ'*, *'भयउ रामपद नेह।'* (ग) तरुतक पहुँचना' वा तरुका मिल जाना यह रामकृपासे दिखाया।—*'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता।'*

यहाँ *'तरुछाया सुख'* की उपमा बड़ी ही उत्कृष्ट है। वटतले इस समय सब बैठे हैं, वटतले ही कथा हुई है, वटके पास ये आते ही गये थे। यथा—*'करि तड़ाग मज्जन जल पाना। बट तर गयेउ—'* (६३। ३—५)

खर्रा—*'अति आतप——'* इति। अर्थात् मुझको दुःखके अनुभवसे अब रामस्वरूपज्ञानका सुख अनुभव तरुछायावत् अति प्रिय भासता है। यदि मोह न होता तो तुमको कैसे मिलता अर्थात् मोहपूर्वक रामस्वरूपज्ञान और आपका मिलना यही दो फल भगवत्की कृपाके हैं, जो पूर्व कहा था कि *'कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना।'* यह क्रममाला है।

नोट—६ यहाँ इस प्रसङ्गमें *'बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥'* (६१) इस शिव-वाक्यको पूर्णतः चरितार्थ कर दिखाया। *'जौं नहिं होत मोह अति मोही'* यह कृपा *'मिलतेउँ तात कवन बिधि तोही'* यह संतदर्शन और संग, *'सुनतेउँ किमि हरिकथा सुहाई——'* यह सत्सङ्गसे हरिकथा, *'तव प्रसाद सब संसय गयऊ'* तथा *'गएउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित'* यह कथासे मोहनाश और *'भएउ रामपद नेह'* यह मोहनाशसे रामचरणानुराग दिखाया।

जौं नहिं होत मोह अति मोही। मिलतेउँ तात कवन बिधि तोही॥ ४॥
सुनतेउँ किमि हरिकथा सुहाई। अति बिचित्र बहु बिधि तुम्ह गाई॥ ५॥

अर्थ—यदि मुझे अत्यन्त मोह न होता तो हे तात! मैं तुमसे किस प्रकार मिलता?॥ ४॥ (जब यहाँ आता ही नहीं तब) यह सुहावनी अत्यन्त विलक्षण भगवत्कथा कैसे सुनता जो तुमने बहुत प्रकारसे कही है।*॥ ५॥

पं० रा० व० श०, वै०—१ *'मिलतेउँ तात कवन बिधि—।'*—भाव कि देहव्यवहारमें मेरा तुम्हारे पास आना अनुचित था। नीच प्रजाके पास राजा कैसे जाय? राजा होनेका अभिमान होनेसे जिज्ञासु बनकर यहाँ कब आता? २—*'मोह अति'* का भाव कि साधारण मोह होता तो अपनी बुद्धिसे छुड़ा लेता, *'अति'* होनेसे बरिआई यहाँ आना पड़ा। दृष्टान्तमें *'अति आतप'* कहा; अतः मोहको भी *'अति'* विशेषण दिया।

निगमागम पुरान मत एहा। कहहिं सिद्ध मुनि नहिं संदेहा॥ ६॥
संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥ ७॥
रामकृपा तव दरसन भएऊ। तव प्रसाद सब संसय गएऊ॥ ८॥

शब्दार्थ—परि=निश्चय ही, अवश्य।=सर्वतः (चारों ओरसे)। आगम=तन्त्र।

अर्थ—वेद, शास्त्र और पुराणोंका मत यही है, सिद्ध और मुनि ऐसा कहते हैं, इसमें संदेह नहीं॥ ६॥ अत्यन्त शुद्ध संत उसे अवश्य मिलते हैं जिसे रामचन्द्रजी कृपा करके देखते हैं॥ ७॥ श्रीरामचन्द्रजीकी कृपासे आपका दर्शन हुआ और आपकी कृपासे सब संशय चला गया॥ ८॥

नोट—१ ऊपर जो कहा था कि मुझे जो मोह हुआ यह रघुनाथजीकी कृपा थी, वह कृपा यहाँतक दिखलायी। *'कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना।'* (६९। २) उपक्रम है और *'रामकृपा तव दरसन भएऊ——'* यह कृपाप्रसङ्गका उपसंहार है। २—प्रथम *'तव प्रसाद बायस तिलक'* कहकर तब *'कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना'* कहा था और अन्तमें *'रामकृपा तव दरसन भएऊ'* कहकर तब *'तव प्रसाद सब संसय गएऊ'* कहा है। इस प्रकार रामकृपा तथा संतकृपा दोनोंको एक समान श्रेष्ठ जनाया।

* १ खर्रा—'जौ नहिं होत मोह अति मोही' से 'तव प्रसाद सब संसय गएऊ' तक यह क्रम मालारूपसे कहा। २-वीर—यहाँ लेश अलङ्कार है।

पं०—*'निगमागम पुरान मत एहा।'*—भाव कि जो मैंने कहा कि रघुनाथजीने मुझपर अनुग्रह की इससे आप मिले, इत्यादि, यह मैंने बात बनाकर नहीं कही है, कुछ मैं ही नहीं कहता वरन् वेदादि सभी कहते हैं कि जब प्रभु अति कृपाल होते हैं तब सत्सङ्ग देते हैं।

दो०—सुनि बिहंगपति बानी सहित बिनय अनुराग।
पुलक गात लोचन सजल मन हरषेउ अति काग॥
श्रोता सुमति सुसील सुचि कथारसिक हरिदास।
पाइ उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास॥ ६९॥

अर्थ—पक्षिराजकी विनम्र और प्रेमयुक्त वाणी सुनकर कागभुशुण्डिजीका शरीर पुलकित हो गया, नेत्रोंमें जल भर आया और वे मनमें अति प्रसन्न हुए। हे उमा! सुन्दर बुद्धिवाले, सुशील, पवित्र (निष्कपट), कथाका रसिया (प्रेमी) और हरिभक्त श्रोताको पाकर सज्जन अत्यन्त छिपानेवाले रहस्य भी प्रकट कर देते हैं॥ ६९॥

नोट—१ (क) *'सहित बिनय अनुराग'* इति। *'कहत बचन मन परम उछाहा'* यह अनुराग है। *'तव प्रसाद बायसतिलक'* से *'तव प्रसाद सब संसय गएऊ'* यह सब विनीत वचन हैं पर अनुरागयुक्त सभी वाणी हैं। (ख) *'कहत बचन मन परम उछाहा'* उपक्रम है और *'सुनि बिहंगपति बानी सहित बिनय अनुराग'* उपसंहार है। (ग) *'हरषेउ अति'* भाव कि जब वे आये तब हर्ष हुआ था, यथा—*'हरषेउ बायस सहित समाजा।'* (६३। ६) और अब अति हर्ष हुआ। ☞ यह दोहा भुशुण्डिजीने जो रहस्य—प्रभुकी अपने साथ क्रीड़ा, अपने जन्म, तन आदिके प्रसङ्ग कहे हैं उनका उपक्रम है।

पं०—*'मन हरषेउ अति'* इति। रोगीको दवा दी जाय और वह औषधि-सेवनसे अपनी आरोग्यता सुनावे तो वैद्य प्रसन्न होता है। भुशुण्डिजीका उपदेश सुनकर गरुड़जीने अपनी कृतज्ञता कही, अतः हर्ष हुआ। सुशील=उत्तम स्वभाव। **सुचि**=सदाचारी। **रसिक**=व्यवहारसे आँख बंद कर मन लगाकर सावधान सुननेवाला।

पं० रा० व० श०—१ (क) *'सुमति'* का भाव कि बुद्धि संसारमें लगी हुई नहीं है, बुद्धि लगाकर सुनता है, कुतर्क नहीं करता। 'सुशील' से जनाया कि जो बात कही जाती है उसको मानता है, वक्ताका आदर करता है। **सुचि**=भीतर-बाहर पवित्र। भाव कि मनमें कपट-छल नहीं है, वक्ताकी परीक्षाके लिये नहीं आया है। *'कथारसिक'* इति। उसको कथाका रस मिलता है, सुननेसे तृप्ति नहीं होती। यथा—*'रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥'* जिसको जिसमें रस मिलता है वह उसमें बहुत प्रेम करता है। (ख) **'अति गोप्यमपि'** इति। इससे जनाया कि रहस्यकी बात किसीसे कहनेकी नहीं है। कहा है कि सिर दे दे, शरीर दे दे, पर रामतत्त्व न दे, यह अत्यन्त गोपनीय है। यथा—'**आत्मा देयः शिरो देयं न देयं रामतत्त्वकम्**', '**गोप्यातिगोप्यं परमगोप्यं न देयं रामतत्त्वकम्**' एवं '**न ब्रूयाद् यस्य कस्यचित्।**'

नोट—२ श्रीशौनकादि ऋषियोंने श्रीसूतजीसे ऐसा ही कहा है। यथा—'**यानि वेदविदां श्रेष्ठो भगवान् बादरायणः। अन्ये च मुनयः सूत परावरविदो विदुः॥ वेत्थ त्वं सौम्य तत्सर्वं तत्त्वतस्तदनुग्रहात्। ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत॥**' (भा० १। १। ७-८) अर्थात् हे सौम्य! वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ भगवान् बादरायण व्यासजी तथा प्रकृति और परमेश्वरको तत्त्वसे जाननेवाले अन्यान्य मुनिगण जिन शास्त्रोंको जानते हैं उन सबको आप भी उनकी कृपासे यथावत् जानते हैं। क्योंकि गुरुजन अपने प्रिय सुशील शिष्यसे अत्यन्त गुह्य तत्त्व भी बतला दिया करते हैं। श्लोकमें '**स्निग्धस्य शिष्यस्य**' शब्द हैं, उसी '**स्निग्ध**' की मानो व्याख्या यहाँ *'श्रोता सुमति सुसील सुचि कथारसिक हरिदास'* इन शब्दोंसे कर दी गयी है। '**गुह्यमप्युत**' यहाँका '**अतिगोप्यमपि**' है, 'गुरु' की जगह सज्जन हैं, '**ब्रूयुः**' का अर्थ *'करहिं प्रकास'* है।

मिलान कीजिये—*'रामकृपाभाजन तुम्ह ताता। हरिगुन प्रीति मोहि सुखदाता॥ तातें नहिं कछु तुम्हहि दुरावउँ। परम रहस्य मनोहर गावउँ॥'* (७४। ३। ४)

करु०—दूसरा अर्थ—'सज्जन समाजमें अतिगोप्य मर्म भी प्रकाश करते हैं, पर उनकी वाणीमें जो गुप्त मत है वह वही श्रोता पाते हैं जो सुमति आदि हैं।' इस अर्थमें सज्जनोंकी उदारता प्रकट होती है।

वीरकवि—यथायोग्यका संग वर्णन 'प्रथम सम अलङ्कार' है।

☞ मानसमें तीन श्रोता मुख्य हैं—श्रीभरद्वाज मुनि, श्रीपार्वतीजी और श्रीगरुड़जी। तीनोंमें ग्रन्थकारने इस दोहेमें कहे हुए पाँचों गुण दिखाये हैं।

	श्रीभरद्वाज मुनि	श्रीपार्वतीजी	श्रीगरुड़जी
सुमति	**'चतुराई तुम्हारि मैं' जानी।'** (१। ४७। ३)	**धन्य सती पावनि मति तोरी।'** (५५। ७)	**'धन्य धन्य तव मति उरगारी।'** (९५। ५)
सुशील	**'मैं जाना तुम्हारि गुन सीला।'** (१। १०५। १)	**'सुंदर सहज सुशील 'सयानी।'** (१। ६७। २)	**'सरल सुप्रेम सुखद।'** (६४। ५)
शुचि	**'सुचि सेवक तुम्ह राम के रहित समस्त बिकार।'** (१। १०४)	**'अति पुनीत गिरिजा कै करनी।'** (१। ७६। ८)	**'सुपुनीता।'** ६४। ५
कथारसिक	**'चाहहु सुनै राम गुन गूढ़ा। कीन्हिहु प्रश्न मनहु अति मूढ़ा।'**(१। ४७)	**'अति आरत पूछौं······' रघुपति कथा कहहु।'**(१। ११०)	**'अब श्रीरामकथा······ 'बिनवौं प्रभु तोही।'**(६४। ३। ४)
हरिदास	**'रामभगत तुम्ह मन क्रम बानी।'** (१। ४७। ३)	**'तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी।'** (१। ११२। ८)	**'हरिसेवक अति 'निकट निवासी'** (५५)

बोलेउ काकभसुंड बहोरी। नभगनाथ पर प्रीति न थोरी॥ १॥
सब बिधि नाथ पूज्य तुम्ह मेरे। कृपापात्र रघुनायक केरे॥ २॥
तुम्हहिं न संसय मोह न माया। मो पर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया॥ ३॥
पठै मोह मिस खगपति तोही। रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही॥ ४॥

अर्थ—काकभुशुण्डिजी फिर बोले, पक्षिराजपर उनका प्रेम कुछ थोड़ा नहीं (अर्थात् बहुत) है॥ १॥ हे नाथ! आप सब प्रकारसे मेरे पूज्य हैं। आप श्रीरघुनाथजीके कृपापात्र हैं॥ २॥ आपको न संशय है, न मोह और न माया। हे नाथ! आपने मुझपर दया की है॥ ३॥ हे पक्षिराज! मोहके बहाने श्रीरघुनाथजीने आपको यहाँ भेजकर मुझे बड़ाई दी है॥ ४॥

नोट—१ ***'बोलेउ······बहोरी'*** इति। जब गरुड़जी आये थे तब स्वागत-कुशल-प्रश्न तथा पूजा करके उनसे बोले थे। यथा—***'करि पूजा समेत अनुरागा। मधुर बचन तब बोलेउ कागा॥ नाथ कृतारथ······।'*** (६३) इत्यादि। श्रीगरुड़जीके कहनेपर कि श्रीरामकथा सुनाइये वे कथा सुनाने लगे। बीचमें कहीं न बोले थे। कथा समाप्त होनेपर गरुड़जीने कृतज्ञता प्रकट करते हुए अपना मोह कहा। उन वचनोंको सुनकर अब पुनः बोले। अतः बोलेउ बहोरी कहा।

'नभगनाथ पर—' भाव कि अपने समाजके राजा हैं। प्रतिष्ठित श्रोता हैं तथा ऐसे रसिक स्निग्ध श्रोताका सत्सङ्ग हुआ, इत्यादि कारणोंसे बहुत प्रेम उनपर है। यथा—***'आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन। निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन॥ नाथ जथा मति भाषेउँ राखेउँ नहिं कछु गोइ॥'*** (१२३)

पं० रा० व० श०—१ ***'सब बिधि पूज्य'*** यह कि वैष्णव होनेसे, शुद्ध भगवदनुरागी होनेसे (इनको दण्डवत् करनेकी शास्त्राज्ञा है), पक्षिराज होनेसे विद्या, कुल (खग-कुलका) और गुण इन सबसे पूज्य हैं ही, पर श्रीरघुनाथजीके कृपापात्र होनेसे सब विधि पूज्य हैं। यथा—***'जाको हरि दृढ़ करि अंगु कर्‌यो। सोइ सुसील पुनीत बेदबिद बिद्या गुननि भर्‌यो॥ उत्पति पांडु सुतनिकी करनी सुनि सतपंथ डर्‌यो। ते त्रैलोक्य पूज्य पावन जस सुनि सुनि लोक तर्‌यो······तुलसिदास रघुनाथ कृपा को जोवत पंथ खर्‌यो॥'*** (वि० २३९)

पां०—१ पूज्य इस तरह कि जाति, अधिकार (क्योंकि राजा हैं) और प्रेममें बड़े हैं। २—*'तुम्हहि न संसय मोह न माया—।' 'सो नहिं कछु आचरज गोसाईं॥'* इति। प्रथम तो आपको किसी प्रकारका संशय है ही नहीं और यदि मान भी लें तो मोहका बहानामात्र है, वस्तुतः मोह नहीं है। आपने आकर मुझे कृतार्थ किया, मेरा अहोभाग्य है, आपने जान-बूझकर मुझपर कृपा की है। अथवा इस बहानेसे कृपालु श्रीरामजीने आपको मेरे पास भेजा जिसमें मेरी बड़ाई हो कि गरुड़ पक्षिराजका मोह कौएने दूर किया। तीसरे यदि मान लें कि सत्य ही मोह हुआ था तो इसमें भी क्या आश्चर्य है?

नोट—२ (क) ☞ *'मोपर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया'* कहकर सत्योपाख्यानकी कथा भी जना दी। वहाँ गरुड़ने भुशुण्डिजीसे कहा है कि हम मोहके बहाने तुम्हारे पास आयेंगे।* दूसरे, इस प्रकारका कथन शिष्टाचार है और यही मानसका मत है। सत्योपाख्यानवाली कथा यहाँ विशेष सङ्गत नहीं है। (ख) *'मोहमिस'* का भाव कि मोह है नहीं, इसका बहानामात्र है। आगेके *'तुम्ह निज मोह कहा'* का भाव यह है कि मैं तो आपमें मोह न मानता हूँ, न कहता हूँ, केवल आपका कथन लेकर उसपर कुछ कहता हूँ।

☞ गरुड़जीने पहले भुशुण्डिजीकी प्रशंसा की, पहले उनकी कृपा अपने ऊपर कही तब रघुनाथजीकी, वैसे ही भुशुण्डिजीने प्रथम गरुड़जीकी कृपा कही तब रघुनाथजीकी। भक्त भगवत्-भागवत-प्राप्तिमें भागवत-कृपाको ही मुख्य मानते हैं।

पं० रा० व० श०—*'रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही'* का भाव कि आप जो कहते हैं कि रघुनाथजीने आपको भ्रममें डाला, यह आपपर कृपा की सो बात नहीं है—न आपको मोह है और न आपपर कृपा की, यह तो मुझपर उनकी कृपा हुई जान पड़ती है, इसका बहाना कर मुझको बड़ाई देनेकी कृपा की है।

वि० त्रि०—श्रोताका प्रोत्साहन करते हुए भुशुण्डिजी कहते हैं कि आप भले ही समझते हों कि मुझे संशय, मोह और माया है, पर मेरे विचारसे आपको कुछ नहीं हुआ है। जिस भाँति भगवान् शङ्करने पार्वतीजीसे कहा था कि *'राम कृपाते पारबति सपनेहुँ तव मन माहिं। सोक मोह संदेह भ्रम मम बिचार कछु नाहिं॥'* उसी भाँति भुशुण्डि गरुड़से कहते हैं। शङ्करभगवान् कहते हैं कि तुम्हें संशय-मोह नहीं है, तुमने केवल जगत्के हितके लिये प्रश्न किया है। इसी भाँति भुशुण्डिजी कहते हैं कि आपको संशय-मोह-माया नहीं है, आपने केवल मेरे ऊपर दया किया है। गुणवान् श्रोताके मिलनेसे वक्ताके उपदेशकी जगत्में प्रसिद्धि हो जाती है। इतने दिन मुझे कथा कहते हुए पर मेरी कथाकी प्रसिद्धि नहीं हुई, केवल चिड़ियाएँ कथा सुनती रहीं, आपके श्रोता हो जानेसे अब मेरी कथाकी प्रसिद्धि हो जायगी (यथा—*'कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहग नायक गरुड़'*) और वस्तुतः प्रश्न करनेके समय न तो उमाको ही कोई संशय था और न गरुड़जीको ही था; यथा—*'देखि सैल प्रसन्न मन भयऊ। माया मोह सोक सब गयऊ॥'*

गरुड़जीके वाक्य और भुशुण्डिजीके उत्तरका मिलान—

गरुड़जी		काकभुशुण्डिजी
सुनि सब रामकथा खगनाहा	१	**सुनि बिहंगपति बानी**
कहत बचन मन परम उछाहा	२	**पुलकगात लोचन सजल मन हरषेउ**
गएउ मोर संदेह—	३	**तुम्हहिं न संसय मोह न माया**

* 'अज्ञानीवत्त्वहं काक विपृच्छेऽहं कदापि त्वाम्। रामतत्त्वं महाबुद्धे जगत्सुयशसे तव॥ इति लोका वदिष्यन्ति काको ज्ञानी महामतिः। अज्ञानं गरुडस्यैव कृतं येनैव दूरगम्॥ यशस्तु तव भोः काक लोकेषु प्रचरिष्यति। गरुडेन भुशुण्डाद्धि ज्ञानं प्राप्तं सुदुर्लभम्॥ यूयं तु हरिभक्ताश्च रामस्य चरणार्चकाः॥ भविष्यति च मे भाग्यं यदा त्वं ह्यागमिष्यति (सत्योपाख्यान २६। ५९—६२) पुनः श्रीरामवाक्य—'उपदेक्ष्यसि त्वं ज्ञानं गरुडाय महात्मने॥ ७०॥' अर्थात् महात्मा गरुड़को तुम ज्ञानका उपदेश करोगे। २—शुद्धापह्नुति अलङ्कार है।

तव प्रसाद बायसतिलक ४ मोपर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया
सोइ भ्रम अब हितकर मैं माना ५ पठइ मोह मिसु खगपति तोही
कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना ६ रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही

७ *'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही'* इत्यादिका उत्तर संवादके अन्तमें भुशुण्डिजीने यों दिया है—*'आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन। निज जन जानि राम मोहिं संत समागम दीन्ह॥'*

गरुड़-मोहका समाधान

तुम्ह निज मोह कही* खगसाईं। सो नहिं कछु आचरज गोसाईं॥ ५॥
नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनि नायक आतमबादी॥ ६॥
मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही॥ ७॥
त्रिस्ना† केहि न कीन्ह बौराहा‡। केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा§॥ ८॥

अर्थ—हे पक्षिस्वामी! आपने अपना मोह कहा, सो हे गोसाईं! कुछ आश्चर्य नहीं है॥ ५॥ श्रीनारदजी, श्रीशंकरजी, श्रीब्रह्माजी, श्रीसनकादि (तथा और भी) जो मुनिश्रेष्ठ और आत्मतत्त्वके कहने, सुनने और जाननेवाले हैं, इनमेंसे मोहने किस-किसको अन्धा नहीं कर दिया? जगत्‌में कौन है जिसे कामने न नचाया हो? अर्थात् सभी मोह और कामके वशीभूत हुए॥ ६-७॥ तृष्णाने किसे पागल नहीं बनाया, क्रोधने किसका हृदय नहीं जलाया?॥ ८॥

पं० रा० व० श०—१ *'तुम्ह निज मोह कहा——'* इति। पूर्व कहा कि आपमें मोह था ही नहीं और अब कहते हैं कि मोहका होना आश्चर्य नहीं है। इसका समाधान यह है कि यह रीति है कि श्रोताका पहले आश्वासन करे, जिससे उसके चित्तमें आह्लाद हो, आह्लाद होनेपर उपदेश दिया जाय तो वह सफल होता है। यदि पहले उसको फटकारकर उसका अपमान कर दिया जाता है तो उदासचित्त हो जानेसे फिर उपदेश लगता नहीं। यहाँ उसी रीतिको भुशुण्डिजी बरत रहे हैं। *'पठै मोह मिस—रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही'* और *'सो नहिं कछु आचरज गोसाईं'* से वे गरुड़जीके वचनोंकी पुष्टि कर रहे हैं कि यह मोह नहीं है, इसे भगवत्-कृपा ही समझो। (ऊपर चौ० १—४ में आ चुका है)

नोट—१ नारदादिको गिनाकर *'मोह न अंध कीन्ह केहि केही'* कहकर जनाया कि इन सबको मोह हुआ—(ब्रह्माजीका मोह रावणवधपर, श्रीसीताजीके अग्निप्रवेशपर तथा द्वापरमें बच्छहरण-प्रसङ्गसे स्पष्ट है।)—फिर *'को जग काम नचाव न जेही'* इत्यादि सब जगन्मात्रके लिये कहा+।

☞ यह प्रसङ्ग मोहसे उठाया क्योंकि—(क) यहाँ मोह ही प्रस्तुत प्रकरण है, कामक्रोधादि नहीं—*'मोहि भएउ अतिमोह प्रभु बंधन रन महँ निरखि।'* (६८) इसी तरह नारदमोहमें कामका प्रसङ्ग था, अतः वहाँ कामको आदिमें कहा है, यथा—*'दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही', 'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि'* तथा रावणको समझाना विभीषणजीने *'सो परनारि लिलार गोसाईं।' 'तजउ——'* से (अर्थात् कामसे) उठाया है, अतः वहाँ कामको आदिमें कहा है, यथा—*'काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।'* (सु० ३८) [यह प्रसङ्ग 'मोह' से उठाया, क्योंकि यह सब व्याधियोंका मूल है—*'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।'* मूल कहकर तब उसकी शाखाएँ कहीं। (पं० रा० व० श०)] पुनः,

* कहा। † तृष्णा—(का०)। ‡ बौरहा, § दहा:—(गुटका)।

+ पुनः नारद, शिव, ब्रह्मा और सनकादिक मुनिनायकोंको गिनाकर मोह, काम, तृष्णा और क्रोधको यथाक्रमसे कहा। नारदको मोह हुआ, यथा—'पुनि नारद कर मोह अपारा।' शिवजी मोहिनी रूप देखकर लज्जा छोड़ कामातुर हो पीछे दौड़े; यह कथा भा० ८। १२ में है। यथा 'तामन्वगच्छद्भगवान्भवः प्रमुषितेन्द्रियः। कामस्य च वशं नीतः करेणुमिव यूथपः॥ २७॥' ब्रह्माजीमें तृष्णा यह कि उच्च पद मिल जाय, वा इनमें मोह, काम आदि सभी बातें हैं और सनकादिने क्रोधवश हो जय-विजयको शाप ही दिया है।

(ख) 'यहाँ यह भी कह सकते हैं कि मोह अज्ञानको कहते हैं। अज्ञान होनेपर काम-क्रोध-लोभ-मदादि सभी होते हैं; इसीसे मोहको कहकर तब काम-क्रोधादिको कहा।

२ '*को जग काम नचाव न जेही।*' नारद, शिव और ब्रह्माको कह आये और '***भये कामबस जोगीस तापस पावँरन्हकी को कहै***' यह शिवजीको समाधिसे जगानेके अवसरपर कविने कहा है। (भा० ३। ३१। ३६—३८) में कपिलभगवान्ने मातासे ऐसा ही कहा है कि जब ब्रह्माकी यह दशा कामसे हुई तब उनके पुत्र-पौत्रादिकृत सृष्टिमें सिवा ऋषि-नारायणके कौन ऐसा पुरुष है जो स्त्रीरूप मायामें न फँसे। यथा '**प्रजापतिः स्वां दुहितरं दृष्ट्वा तद्रूपधर्षितः। रोहिद्भूतां सोऽन्वधावदृक्षरूपी हतत्रपः॥ तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु को न्वखण्डितधीः पुमान्। ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया॥ बलं मे पश्य मायायाः स्त्रीमय्या जयिनो दिशाम्। या करोति पदाक्रान्तान्भ्रूविजृम्भेण केवलम्॥**'

३—तृष्णा=वह स्वभाव कि कितना ही मिलता जाय पर संतोष न हो। यह कभी नहीं जाती, मरते समय भी इसके पाशसे मनुष्य बँधा रहता है। इसका नशा आदमीको बावला बनाये रहता है। भर्तृहरिने कहा है कि '**तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा**' हम जीर्ण हो गये पर हमारी तृष्णा कभी जीर्ण नहीं होती, उसका अपच हमें नहीं होता, वह नित्य नयी ही बनी रहती है। इसीसे तृष्णाको '*उदर अति बृद्धि भारी*' कहा है।

☞ मिलान कीजिये—'***सो प्रगट तनु जर्जर जराबस ब्याधि सूल सतावई। सिर कंप इन्द्रिय सक्ति प्रतिहत बचन काहु न भावई॥ गृहपालहू ते अति निरादर खान पान न पावई। ऐसिहु दसा न बिराग तहँ तृष्ना तरग बढ़ावई***' इति विनये। ऐसा ही विदुरजीने धृतराष्ट्रसे कहा है यथा—'**पितृभ्रातृसुहृत्पुत्रा हतास्ते विगतं वयः। आत्मा च जरया ग्रस्तः परगेहमुपाससे॥ अहो महीयसी जन्तोर्जीविताशा यया भवान्। भीमापवर्जितं पिण्डमादत्ते गृहपालवत्॥**'(भा० १। १३। २१-२२)

अर्थात् अहो! आपके पिता, भ्राता, मित्र और पुत्र सभी मारे गये, आयु पूरी हो चुकी और शरीर भी जरा-जर्जरित हो गया। फिर भी आप पराये घरकी सेवा कर रहे हैं। ओह! जीवोंकी जीवन-आशा भी बड़ी प्रबल होती है जिसके कारण आप भीमका दिया हुआ टुकड़ा घरकी रखवाली करनेवाले कुत्तेकी तरह खा रहे हैं।

दो०—ज्ञानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार।
केहि कै लोभ बिडंबना कीन्हि न एहि संसार॥
श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनि के नयन सर* को अस लाग न जाहि॥७०॥

अर्थ—ज्ञानी, तपस्वी, शूरवीर, कवि, कोविद और सर्वगुणधाम इस संसारमें कौन है जिसकी लोभने हँसी वा फजीहता न की हो? लक्ष्मीके मदने किसे टेढ़ा नहीं किया? प्रभुताने किसको बहिरा नहीं कर दिया? ऐसा कौन है जिसे मृगनयनीके नेत्रकटाक्षरूपी बाण न लगे हों?॥ ७०॥

पं०—प्रथम दोहेमें कहा कि ज्ञानी आदि सभीमें लोभरूपी दोष होता है सो तो अधम हैं ही और दूसरेमें कहते हैं कि जिन्होंने व्यवहारमात्र उसे अङ्गीकार किया है वह भी दूषित हैं।

नोट—१ '*लोभ बिडंबना कीन्हि न*' इति। लोभवश लोग माता-पिता, भाई सुहृदादिको भी मार डालते हैं, लोभसे मनुष्य बन्धनमें पड़ता है, उसको कार्याकार्यका विचार नहीं रह जाता। यथा—'*लोभ पास जेहि गर न बँधाया*' (कि० २१)।

'*श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि*' इति। धनान्धकी टेढ़ी भौं और टेढ़े मुखमें नित्य कड़वे वचन रहते हैं। भाव कि सम्पत्ति पाकर न सीधे चलें, न सीधे बोलें, दूसरा दीन होकर आवे तो सन्तोष देना दूर

* मृगलोचनि लोचन सर-(का०)। नैनसर-भा० दा०।

रहा, उससे ठठोली करते टेढ़े वचन बोलते हैं, उसकी सुनते ही नहीं। पुन: **'बक्र'** कहनेका भाव कि धनके गर्वमें वह यह अभिमान करके कि मैं श्रेष्ठ हूँ लोगोंकी ओर टेढ़ी दृष्टिसे देखता है, गुरुजनोंतकसे आशङ्का करता है कि धन हर न लें, यथा—(भा० ५। २६। ३६) **'यस्त्विह वा आढ्याभिमतिरहंकृतिस्तिर्यक्प्रेक्षणः सर्वतोऽभिविशङ्की'** अर्थात् जो पुरुष इस लोकमें अपनेको धनाढ्य समझकर सबको टेढ़ी दृष्टिसे देखता है, जिसका सभीपर संदेह रहता है। *'प्रभुता बधिर न काहि',* यथा—*'नहिं अस कोउ जनमा जग माहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं'॥* प्रभुता=अधिकार। अधिकार पाकर लोग अभिमानके वश हो जाते हैं, यथा—*'बड़ अधिकार दक्ष जब पावा। अति अभिमान हृदय तब आवा॥'* (१। ६०) अभिमानवश मनुष्य उपदेश नहीं सुनता यही बधिर होना है। दक्षने सतीके वचन न ग्रहण किये, रावणने किसीका उपदेश न सुना।

मिलान कीजिये—*'को न क्रोध निरदह्यो काम बस केहि नहिं कीन्हो। को न लोभ दृढ़ फंद बाँधि त्रासन करि दीन्हो॥ कवन हृदय नहिं लाग कठिन अति नारिनयनसर। लोचनजुत नहिं अंध भयो श्री पाइ कवन नर॥ सुर नाग लोक महिमंडलहु को जु मोह कीन्हों जय न। कह तुलसिदास सो ऊबरै जेहि राख राम राजिवनयन॥'* (क० ७। ११७) पुनः भोजप्रबन्धसारे यथा—**'यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता। एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥'**

गुनकृत सन्यपात* नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही॥ १॥
जोबन† ज्वर केहि नहिं बलकावा। ममता केहि कर जस न नसावा॥ २॥
मच्छर‡ काहि कलंक न लावा। काहि न सोक समीर डोलावा॥ ३॥

शब्दार्थ—**निबेही**-**निबेहना**=निबेरना, निवृत्त करना, छाँटना, चुनना, बन्धन छुड़ाना-(श० सा०)। बिना छिद्र किये। **बेह**=छिद्र, छेद, यथा—**'उर भएउ न बेहू'**—(शीला) **'निबेही'**=निर्व्यथी अर्थात् पीड़ारहित। (निर्व्यथ=नि+ब्य्+ए निब्बे। थ=ह। निर्व्य+थ=निब्बे+ह=पीड़ारहित) 'बलकाव' धातु। 'झुकाने, पागल बनाने' के अर्थमें है। (गौड़जी)। **बलकान**=उबालना, उभारना, उमगाना, उत्तेजित करना। (श० सा०)। =उत्पथ चलाना। (रा० कु०)

अर्थ—गुणोंका किया हुआ सन्निपात किसे न हुआ? कोई ऐसा नहीं है जिसे मान-मदने बिना छेद डाले वा पीड़ारहित छोड़ा हो॥ १॥ युवा अवस्थारूपी ज्वरने किसको न खौला दिया, न दिवाना कर दिया? ममत्वने किसका यश नहीं नष्ट कर डाला?॥ २॥ मत्सर-(डाह-) ने किसको कलंक नहीं लगाया और शोकरूपी पवनने किसको न हिला दिया?॥ ३॥

नोट—१ *'गुनकृत सन्यपात—'* इति।—'सन्निपात'—रोगकी एक विशेष अवस्था है जो ज्वर या और किसी व्याधिके बिगड़नेपर होती है। सबसे साधारणरूप इसका वह है जिसमें रोगीका चित्त भ्रान्त होता है। वह अंडबंड बकने लगता है तथा उछलता-कूदता है। गुणवान् होनेपर बहुत कम ऐसे होते हैं जो सावधान रहें, गुणका मद हो जाता है जिससे वे अपनी ही प्रशंसा बड़बड़ाया करते हैं, जैसे सन्निपातमें लोग वही बड़बड़ाते हैं जो उनके दिमागमें दिन-रात भरा रहता है।—*'सन्निपात जल्पसि दुर्बादा।'* अपने आगे दूसरेका गुण समझते नहीं।—सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंके विषयमें ऐसा ही (भा० ११। २५। ५-६) में कहा है और अध्यायमें विस्तारपूर्वक गुणकृत सन्निपातका वर्णन है—**'सत्त्वस्य रजसश्चैतास्तमसश्चानुपूर्वशः। वृत्तयो वर्णितप्रायाः संनिपातमथो शृणु॥ संनिपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः। व्यवहारः सन्निपातो मनो मात्रेन्द्रियासुभिः॥ ६॥'** भगवान् उद्धवजीसे कहते हैं कि ये सत्त्व, रज और तमोगुणकी अलग-अलग वृत्तियाँ वर्णन की गयी हैं, यदि इसी प्रकारकी और भी हों तो उन्हें भी इसी अनुसार जानना चाहिये। अब उनके मेलसे बननेवाली वृत्तियोंके विषयमें कहता हूँ, सुनो। मैं और मेरा ऐसी जो बुद्धि होती है वह तीनों गुणोंका सन्निपात (मेल) है। मन, शब्दादि विषय, इन्द्रियों और प्राणोंसे जो कुछ भी व्यवहार होता है वह तीनों गुणोंका मेल ही समझना चाहिये। इत्यादि।

* 'संन्यपात'। † 'जौबन' ‡ 'मत्सर'—(का०)

प० रा० व० श०—१ *'गुनकृत सन्निपात।'* सत्त्व, रज और तम तीन गुण हैं वैसे ही वात, पित्त और कफ त्रिदोष हैं जबतक इनमेंसे एक भी स्वस्थानपर ठीक है तबतक सँभल जानेकी आशा रहती है, तीनोंका प्रकोप होता है तब सन्निपात होता है। वैसे ही जबतक सत्त्वगुण स्थानपर बना हुआ है, रज और तम ये दो बिगड़े हैं तबतक जीवके सँभलनेकी आशा है। जब सत्त्व भी बिगड़ा तब मनुष्य भूल जाता है कि उसका क्या कर्तव्य है, उसे किसकी लज्जा करनी चाहिये। इत्यादि।

२ *'कोउ न मान मद तजेउ निबेही'* इति। भाव कि मृत्यु आदि देखकर या किसी संस्कारवश कथा सुनकर या सत्सङ्ग इत्यादि पाकर क्षणभरका ज्ञान मनुष्यको हो जाता है पर मानमदको छोड़कर कोई निबह गया हो, फिर उसको मानमद न हुआ हो, ऐसा कोई नहीं है।

पं०—१ *'गुनकृत ...... निबेही।'* वात, पित्त, कफ जब तीनोंका सन्निपात हो तब असाध्य होता है, वैसे ही सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंका जब प्राबल्य होता है तब बुद्धि विक्षिप्त हो जाती है, किसीका उपदेश नहीं चलता। २—'**निबेही**' और 'निबाही' अतिसारके नाम हैं। अर्थ है कि मानमदरूपी अतिसारने किसको छोड़ा है।'

नोट—२ *'जोबन ज्वर केहि नहिं बलकावा'*—*'जवानी दिवानी'* कहावत ही है। इसमें काम-क्रोध सभीका प्राबल्य रहता है, लोग कुपन्थपर चलने लगते हैं। जवानीकी उमङ्गमें कोई किसीको कुछ नहीं समझता। भर्तृहरिजी कहते हैं कि युवावस्था रागका घर है, अगणित नरकोंके महान् दुःखोंकी प्राप्तिका कारण है, मोह उत्पन्न करनेके लिये बीजरूप है, ज्ञानरूपी चन्द्रको छिपा देनेके लिये मेघसमूहरूप है, कामदेवका एकमात्र मित्र यही है, नाना प्रकारके दोषोंका प्रकट करनेवाला, अपने कुल-(सद्गुणों-) को भस्म करनेवाला है और इसके समान संसारमें दूसरा अनर्थ नहीं है। यथा—'**रागस्यागारमेकं नरकशतमहादुःखसंप्राप्तिहेतुर्मोहस्योत्पत्तिबीजं जलधरपटलं ज्ञानताराधिपस्य। कन्दर्पस्यैकमित्रं प्रकटितविविधस्पष्टदोषप्रबन्धं लोकेऽस्मिन् नह्यनर्थं निजकुलदहनं यौवनादन्यदस्ति॥**' (शृङ्गारशतक)। ['बलकावा' में भाव यह कि जैसे ज्वरमें लोग पर्यंकसे उछल-उछल पड़ते हैं वैसे ही यौवन आनेपर लोग मर्यादा त्याग देते हैं। (पं०)]

३ *ममता 'केहि कर जस न नसावा'* का भाव कि जो यश प्राप्त है उसको भी ममता नष्ट कर डालती है। यह कहकर *'मच्छर काहि कलंक न लावा'* कहनेका भाव कि ममत्वसे प्राप्त-यशका नाश हो जाता है पर यह जरूरी नहीं कि अपयश हो, और मत्सरसे अपयशकी प्राप्ति होती है, पूर्वयश रहा हो या नहीं इससे प्रयोजन नहीं।-ममतासे लोग कुमार्गपर चलते हैं जिससे यश नाश होता है। (रा० प्र०)। ममतावश हो ऐसा काम कर बैठते हैं कि सब थू-थू करते हैं। (पं० रा० व० श०) देहव्यवहारमें अधिक प्रीति ममता है। 'यश न नाश किया' का भाव कि यश तो परमार्थसे होता है, और ममता तो स्वार्थ है, तब यश कैसे? (वै०)

४ *'सोक समीर डोलावा।'* शोक सबको हिला-कँपा देता ही है, इससे धैर्य और धर्म छूट जाता है, इत्यादि। वनवासपर पुरवासियोंकी दशा और तारा-मंदोदरी आदिकी दशा सबने पढ़ी है—*'रहा न ज्ञान न धीरज लाजा।'* श्रीजनक, दशरथजी ऐसे धीरोंको भी शोकने दहला दिया।

'मत्सर'=किसीको दबाकर उससे बढ़नेकी इच्छा; ईर्ष्या; डाह।—[रा० प्र०—मत्सरसे कलंक लगता है। लोग कहते हैं कि इतना पाकर भी इनकी यह दशा है, धिक्कार है।]

चिंता साँपिनि को नहिं खाया। को जग जाहि न ब्यापी माया॥४॥

कीट मनोरथ दारु सरीरा। जेहि न लाग घुन को अस धीरा॥५॥

अर्थ—चिन्तारूपी साँपिनने किसको नहीं खा लिया? संसारमें ऐसा कौन है जिसे माया न व्यापी हो?॥ ४॥ मनोरथरूपी घुन-कीड़ा जिसके शरीररूपी लकड़ीमें न लगा हो, ऐसा धैर्यवान् पुरुष कौन है?॥ ५॥

नोट—१ *'चिंता साँपिनि को नहिं खाया'* इति। चिन्तासे छाती दिन-रात जलती रहती है, यथा—*'बालित्रास ब्याकुल दिन राती। तनु बहु ब्रन चिंता जर छाती॥'* (कि० १२) चिन्ताग्रस्त मनुष्य

जीते-जी मरा हुआ-सा है, कहा भी है कि चिता तो मरनेपर जलाती है पर चिन्ता जीते-जी मनुष्यको जला डालती है। यथा—'**चिता चिन्ता समाख्याता किन्तु चिन्ता गरीयसी। चिता दहति निर्जीवं सजीवो दह्यतेऽनया॥**' (१। ५८। १) देखिये। इसीसे नागिनकी उपमा दी। नागिनके डसनेसे जलन होती है और मनुष्य मर जाता है। पुनः, '*को नहिं खाया*' का भाव कि नागिन सबको खा नहीं लेती उससे मनुष्य बच भी जाता है पर चिन्तारूपिणी साँपिनसे कोई नहीं बचता, चिन्ता जिसे होती है उसे वह खा ही लेती है। '*खाया*' से यहाँ अजगर जातिकी सर्पिणी जान पड़ती है। वा खाया=डस लिया।

'*कीट मनोरथ दारु सरीरा।......*' इति। (क) घुण एक प्रकारका छोटा कीड़ा होता है जो अनाज, पौधे और लकड़ी आदिमें लगता है। जिसमें यह लगता है उसे भीतर ही भीतर खाते-खाते खोखला कर डालता है। इसी प्रकार मनुष्यके मनमें जो अनेक वासनाएँ उठती हैं वे उसके शरीरका भीतर-ही-भीतर धीरे-धीरे क्षीण और छलनी-सरीखा करती जाती हैं। (ख) '*को अस धीरा*' का भाव कि धीरवान्‌की यह दशा हो जाती है तब औरोंकी कहना ही क्या?

पं० रा० व० श०—'*अस को धीरा*' का भाव। बड़े-बड़े धीरोंमें भी अनेक मनोरथ उठते रहते हैं, उन धीरपुरुषोंके शरीरमें भी घुन लगता है।

सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥ ६॥
यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमिति को बरनै पारा॥ ७॥
सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव कहि लेखे माहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—**ईषना (एषण)**=प्रबल इच्छा, अभिलाषा। लोक=कीर्ति, यश,—'**लोकमें लोक बड़ो अपलोक सुकेशवदास जो होउ सो होऊ।**' पारा=सकना, यथा—'**बाली रिपु बल सहै न पारा।**'

अर्थ—पुत्र (हो), धन (हो) और लोक-(में प्रतिष्ठा हो-) इन तीन इच्छाओंने किसकी बुद्धि मलिन नहीं कर दी?॥ ६॥ यह सब मायाका कुटुम्ब है जो बड़ा बलवान् और असंख्य है, उसे कौन वर्णन कर सकता है?॥ ७॥ जिससे शिवजी और चतुर्मुख ब्रह्माजी डरते हैं उसके सामने और जीव किस गिनतीमें हैं? अर्थात् वे तो डरे-डराये ही हैं॥ ८॥

नोट—१ '*सुत बित लोक*' प्रायः यही तीन अभिलाषाएँ हृदयको ग्रस्त किये रहती हैं। पुत्र, धन और पृथ्वी-(घर वा लोकमें यश-) की प्राप्तिके नशेमें सब चूर रहते हैं। मलिनता क्या है?—'***सुत बित दार भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी।***' (वि० १४०) इन्हींके उपायमें मन लगा रहना ही मलिनता है।

२ '*सुत बित लोक ईषना*' इति। पुत्रके लिये जो इच्छा होती है उसे '**सुत-ईषना**' (पुत्रैषणा) कहते हैं। मैं पुत्रके द्वारा यह लोक जीतूँगा (इससे नरकमें न पड़कर मैं तर जाऊँगा), इस तरह लोक-जयके साधन पुत्रके प्रति जो इच्छा होती है वही पुत्रैषणा है। पुत्रैषणामें स्त्रीसंग्रह भी आ गया।

कर्मके साधनभूत गौ आदि मानुषवित्तको इस भावसे ग्रहण करना कि इसके द्वारा कर्म करके मैं पितृलोकपर विजय प्राप्त करूँगा अथवा विद्यासंयुक्त कर्मसे देवलोक या केवल हिरण्यगर्भ विद्यारूप दैववित्तसे देवलोक प्राप्त करूँगा—इसका नाम वित्तैषणा है। लोकैषणासे अनात्मलोक प्राप्तिके साधन सूचित कर दिये गये। वस्तुतः तीनों एक-दूसरेसे सम्बद्ध होनेसे ये एक ही एषणा है। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने कौषीतकेय कहोलजीसे कहा है—'**या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः।**' (बृ० ३। ५। १) भगवान् शङ्कराचार्यजी लिखते हैं कि साधन-सम्बन्धिनी सारी इच्छा फलेच्छा ही है; इसलिये श्रुति ऐसी व्याख्या करती है कि एक ही एषणा है। इस प्रकार कि जो भी पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है, क्योंकि उनका दृष्ट फलमें साधन होना समान है; और जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है, क्योंकि वह फलके ही लिये है; सब लोग फलरूप प्रयोजनसे प्रेरित होकर ही सारे साधनोंको स्वीकार करते हैं। जो लोकैषणा है, उसका साधनके बिना सम्पादन नहीं किया जा सकता, इस प्रकार साध्य-साधन-भेदसे ये दोनों एषणाएँ ही हैं।

तीनों एषणाएँ आत्मज्ञानकी विरोधिनी हैं, क्योंकि ये सब अविद्याके विषय हैं—*'यह सब माया कर परिवारा।'* इसीसे आत्मज्ञान प्राप्त करके इनका परित्याग करना कहा। आत्मज्ञानद्वारा ही इनका त्याग किया जा सकता है। यथा—**'योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति। एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।'** (बृ० ३। ५। १) अर्थात् जो क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्युसे परे है उस आत्माको जानकर ब्राह्मण पुत्र, वित्त और लोक तीनों एषणाओंसे अलग हटकर भिक्षाचर्यासे विचरते हैं।

३ (क)—*'यह सब माया कर परिवारा।'* मोह, काम, तृष्णा, क्रोध, लोभ, श्रीमद, प्रभुता, स्त्रीके कटाक्ष, गुण, मान, मद, यौवन, ममता, मत्सर, शोक, चिन्ता, माया, मनोरथ, सुत-वित्त-लोक-एषणा जो ऊपर गिना आये यह सब मायाका परिवार है। (ख) **'प्रबल'** कहा क्योंकि विज्ञानधाम मुनियोंके मनमें क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं, यथा—*'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि। तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥'* (३। ४३), *'तात तीन अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥'* (३। ३८) (ग) *'अमिति'* का भाव कि जितनेका नाम लिया इतना ही नहीं है वरन् अपार है, इसे कौन गिना सकता है? *'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥'* (३। १५)

वि० त्रि०—*'यह बस माया—'* इति। ऊपर जो मोहादि अठारह मायाके परिवार गिनाये हैं, ये सब क्लेशरूप हैं। योगशास्त्रने १ अविद्या २ अस्मिता ३ राग ४ द्वेष और ५ अभिनिवेश इन पाँचको क्लेशरूप कहा है। (यथा—**अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।**) विचार करनेसे इन अठारहोंका अन्तर्भाव पञ्चक्लेशमें हो जाता है, परंतु अठारह प्रकारकी पीड़ाएँ जो इनसे होती हैं, वे पाँच प्रकार माननेसे स्पष्ट नहीं होतीं। यहाँ मायासे अविद्या माया अभिप्रेत है, क्योंकि अविद्यासे ही शेष चार क्लेशोंकी उत्पत्ति होती है। यथा—(**अविद्या क्षेत्रभूतैरेषां प्रच्छन्नतनुविच्छिन्नोदाराणाम्**) एवम् अठारहोंको अविद्या मायाका परिवार कहना युक्तियुक्त है।

नोट—४ *'सिव चतुरानन जाहि डेराहीं।'* क्योंकि ये सब फंदेमें पड़ चुके हैं। इनका नाम देकर जनाया कि ये सब ईश्वरकोटिके हैं, जीव नहीं हैं, जब ये डरते हैं तब जीवका कहना ही क्या?

वीर—*'गुनकृत सन्यपात—'* से *'केहि कै मति—'* तक सब चौपाइयोंमें 'सम-अभेदरूपक', प्रत्यक्ष प्रमाण और वक्रोक्ति अलङ्कार है। *'अपर जीव केहि लेखे—'* में 'काव्यार्थापत्ति' अलङ्कार है।

वि० टी० कार प्रबोधचन्द्र नाटकसे मनकी स्त्रीप्रवृत्तिद्वारा उत्पन्न सन्तान यह लिखते हैं—

पुत्र—मोह, काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, गर्व, मद, अधर्म।

पुत्रवधू—मिथ्या, रति, हिंसा, तृष्णा, मलिन, आशा, निंदा, ईषणा, अस्पर्धा॥

कन्यापवत्ति है और अज्ञान जामात है जो ईश्वरके पुत्र अदायाका पुत्र है। कन्याकी सन्तान—संशय, विक्षेप, आलस्य, नींद, अनर्थ, रज, तम, कपट, चबाव, असंयम, नानारोग, यन्त्र, मन्त्र, नाटक, प्रपञ्च, जाल इत्यादि।

दो०—ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाषंड॥
सो दासी रघुबीर कै समुझे मिथ्या सोपि।
छूट न रामकृपा बिनु नाथ कहौं पद रोपि॥७१॥

अर्थ—मायाकी भारी, भयङ्कर और बलिष्ठ सेना संसारभरमें व्याप्त हो रही (घेरे हुए फैली हुई) है। कामादि (अर्थात् काम, क्रोध और लोभ उस सेनाके) सेनापति हैं और दम्भ, कपट और पाखंड उसके योद्धा हैं।* वह

* यहाँ लड़नेवाली सेना और मायाके कटकमें एकरूपता वर्णन 'सम अभेदरूपक' है—(वीर)। रघुनाथजीकी दासी भी और मिथ्या भी, इस विरोधी वर्णनमें 'विरोधाभास अलङ्कार' है। मिथ्या वस्तुकी वहाँ गुजर नहीं। उसका छूटना बिना रामकृपाके सर्वथा असम्भव 'प्रथम विनोक्ति अलङ्कार' है।

(माया) श्रीरघुवीर रामचन्द्रजीकी दासी (लौंड़ी) है। (यद्यपि) समझनेसे वह असत्य है फिर भी वह श्रीरामजीकी कृपाके बिना छूटती नहीं—हे नाथ! (यह बात) मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ॥ ७१॥

नोट—*'दंभ कपट पाखंड'* इति। कर्म, मन और वचनके ये तीन भेद हैं। तीनोंमें बहुत थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। औरोंके दिखानेके लिये झूठा आडम्बर करना जिससे प्रतिष्ठा हो **'दम्भ'** है, यथा—***'नाना बेष बनाइ दिवस निसि पर बित जेहि तेहि जुगुति हरौं॥'*** (वि० १४१) ***'गुर नित मोहि प्रबोध दुखित देखि आचरन मम। मोहि उपजइ अति क्रोध दंभिहि नीति कि भावई॥'*** (१०५) झूठा आडम्बर बनाना कर्म है। पर दम्भ मनका भी होता है। यथा—***'हृदय दंभ अहमिति अधिकाई।'*** (१०५। ८) कपटमें भीतर कुछ होता है बाहर कुछ। यह मनमें होता है। यथा—***'लखहि न भूप कपट चतुराई।'*** (२। २७)***'सती हृदय अनुमान किय सब जानेउ सर्वज्ञ। कीन्ह कपट मैं संभु सन नारि सहज जड़ अज्ञ॥'*** (१। ५७) ***'मैं खल हृदय कपट कुटिलाई।'*** (१०६। १६) पाखण्ड=दुष्ट तर्क आदिद्वारा विपरीत मतका प्रतिपादन करना इत्यादि। यह वचनद्वारा होता है। यथा—***'जिमि पाखंडबाद ते गुप्त होहिं सदग्रन्थ।'*** (४। १४)—ये तीनों शब्द एक साथ (१। ३२) में आये हैं।

पं० रा० व० श०—१ **'प्रचण्ड'** का भाव कि इसको जीतना तो दूर रहा कोई सामने भी नहीं आ सकता॥ २॥ (***'सो दासी रघुबीर कै'*** का भाव यह है कि श्रीरघुनाथजीके आश्रित होनेसे, उनकी सत्तासे ही वह इतनी बलवती है। उनकी सत्तासे ही वह भासित हो रही है।) ३—***'मिथ्या सोपि'***······ ' इति। (क)—यदि कहा जाय कि 'रस्सीको साँप समझनेसे थोड़ी देर दुःख होगा पर उजाला होते ही भय चला जायगा, तब झूठी मायासे डरना क्या?' तो उसपर कहते हैं कि इसे रस्सी-सर्पके समान न समझो, यह बलवती माया बिना रामकृपाके नहीं छूटती, यथा—***'छोड़त छुड़ाये ते गहाये ते गहत'***—(वि०)। ☞ यहाँ भुशुण्डिजी दो पक्ष दिखाते हैं। किसीने कहा कि माया तो न सच्ची है न झूठी, न दोनों मिली है, तब क्या है? **'इयमपि न सती वा नासतीनोंभयं वा नहि जगुरितितज्ञा तामनिर्वाच्यरूपाम्'** यह सत्य भी नहीं, असत्य भी नहीं और सत्य-असत्य भी नहीं है किंतु यह अनिर्वाच्य है। इसीको भुशुण्डिजी यहाँ दृढ़ कर रहे हैं। इस तरह कि वह रघुवीरकी दासी है, अतः अपनी सेना लिये हुए वह प्रभुके भृकुटि-विलासपर रघुनाथजीको अपना विलास दिखलाती है। ☞ (ख) ***'समुझे मिथ्या'*** का भाव कि जैसे रस्सीको जबतक समझा नहीं तबतक रस्सीका सर्प है, जब रस्सीका ज्ञान हो गया तब सर्प मिथ्या है, वैसे ही जबतक हमने इसे नहीं समझा, जबतक हमें इसका वास्तविक ज्ञान नहीं होता तबतक यह सत्य ही प्रतीत होती है, ज्ञान होनेपर ही असत्य समझ पड़ती है। यह रघुवीरकी दासी है इसीसे इसमें सत्यकी प्रतीति होती है। श्रीरघुनाथजीके कृपारूपी सूर्यका प्रकाश जब हो तभी वह असत्य जान पड़ेगी, अन्यथा नहीं। सारांश यह कि मायासे छूटनेके लिये अपने कर्तव्य पुरुषार्थका बल-भरोसा न रखो, इसका भजनमात्र एक उपाय है, भजन करो, (भजनसे भगवान् कृपा करते हैं—***'भजत कृपा करिहहिं रघुराई'***), उससे वह आप-ही-आप छूट जायगी। —**'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'** (गीता। ७। १४) ***'पद रोपि'*** का भाव कि कोई कहे तो कहता रहे पर मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ।

नोट—१ आगे ***'मुधा भेद जद्यपि कृत माया'*** से मायाकृत जीव-ईश्वरभेदको असत्य कहा और यहाँ ***'मिथ्या सोपि'*** से स्वयं 'माया' को असत्य कहा अर्थात् कारण, माया और उसके कार्य दोनोंको मिथ्या कहा और दोनोंका छूटना रामकृपापर निर्भर बताया—वहाँ ***'बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया'*** और यहाँ ***'छूट न रामकृपा बिनु।'*** मिलान कीजिये—

'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥······'

'जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥' (बा० ११७) *जासु कृपा अस भ्रम······।'*

२ विनयके ***'माधव असि तुम्हारि यह माया। करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं जब लगि करहु न दाया॥ सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै। जेहि अनुभव बिनु मोह जनित दारुन भव***

बिपति सतावै॥ ब्रह्म पियूष मधुर सीतल जौ पै मन सो रस पावै। तौ कत मृगजल रूप बिषय कारन निसिबासर धावै॥ जेहि के भवन बिमल चिंतामनि सो कत काँच बटोरै। सपने परबस परयो जागि देखत केहि जाइ निहोरै॥ ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं। तुलसिदास हरिकृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं॥' (पद ११६) इस पदसे *'समुझे मिथ्या सोपि, छूट न रामकृपा बिनु'* के भाव स्पष्ट हो जाते हैं।

इस सम्बन्धमें बालकाण्ड मं० श्लोक ६ और ११७ (८)—११८ (१) में विस्तारसे लिखा जा चुका है। वहीं देखिये।

पं०—*'समुझे मिथ्या सोपि'* का भाव यह है कि प्रथम तो मिथ्या समझना ही कठिन है और मिथ्या समझ पड़नेपर भी वह नहीं छूटती।

खर्रा—*'छूट न रामकृपा बिनु'* इति। यह स्पर्द्धापूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं कि रामकृपासे छूटती है, अपने समझनेसे नहीं। *'जो माया सब जगहि नचावा'* से लेकर आगे चरणोंमें मायाका दासित्व कहते हैं।

नं० प०—*'पद रोपि'* इति। प्रण भुजा उठाकर किया जाता है, किंतु पक्षीके हाथ नहीं होता, इसलिये कागभुशुण्डिजीने 'पद' रोपकर प्रण किया।

बाबा जयरामदासजी दीन—कुछ सज्जन *'सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि।'* इस दोहेको लेकर कहते हैं कि यहाँ गोस्वामीजीने मायाको मिथ्या कहा है, इसलिये उनका सिद्धान्त अद्वैतवाद है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। यहाँ भी ऊपरका प्रसङ्ग *'मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही॥'* (७०। ७) से लेकर *'ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटकु प्रचंड। सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाषंड॥'* (७१) तक देखिये। इसमें *'मैं अरु मोर तोर तैं माया'* जो अविद्या है, उसीका पूरा वर्णन करते हुए संसारचक्र दिखाया गया है। अतः उसीके लिये जिसके वशमें होकर यह जीव **'मैं' 'मोर' 'तैं' 'तोर'** आदिमें पड़ा हुआ है—*'जा बस जीव परा भव कूपा'* 'सो' शब्दका इस दोहेमें व्यवहार किया गया। जब यह 'मैं' 'मोर' 'तैं' 'तोर' ही उसका स्वरूप है तब तो यह अज्ञानता, मिथ्या, मोहजन्य है ही। परंतु यह भी श्रीरामकृपाके बिना निवृत्त नहीं हो सकती, यह श्रीकाकभुशुण्डिजी प्रतिज्ञा करके कह रहे हैं; क्योंकि यह श्रीरामजीके ही अधीन है। इसका प्रमाण भी निम्नलिखित है—*'जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥ सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥'* अतः मोह, काम, चिन्ता, श्रीमद, लोभ, यौवन, ममता, मत्सर, एषणा आदिको ही जिन्हें ऊपर *'माया कर परिवारा'* बताया गया है, मिथ्या कहा गया है, क्योंकि ये सब मोहमूलक हैं। इनका आभास तभीतक मिलता है जबतक श्रीरामकृपासे यह जगत् राममय नहीं भासता, क्योंकि *'सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥'* का भाव उदय नहीं होता। अतएव यहाँ भी स्पष्टरूपमें मायावाद और श्रीरामजीकी कृपासे उसकी निवृत्ति सूचित की गयी है। (कल्याणसे उद्धृत)

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥ १॥
सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥ २॥
सोइ सच्चिदानंदघन रामा। अज बिज्ञान रूप बल धामा॥ ३॥

अर्थ—जिस मायाने सारे संसारको ही नचा रखा है, जिसका चरित्र किसीने न लख पाया॥ १॥ हे खगराज! वही माया प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके भ्रकुटी-(भौंह-) के इशारेपर अपने समाजसहित नटीकी तरह नाचती है॥ २॥ वही सच्चिदानन्दघन, अजन्मा, विज्ञानरूप और बलके धाम श्रीराम हैं॥ ३॥

नोट—१ मायाके परिवारको *'अमित प्रबल'* कहा—*'यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमिति को बरनै पारा॥'* मायाकटकको 'प्रचण्ड' बताया और उसके सेनापति और भट कहे—*'ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।'* और यहाँ स्वयं मायाका प्राबल्य दिखाया—*'जो माया सब जगहि नचावा।'* ऐसी प्रबला माया भी रघुवीरकी दासी है—*'सो दासी रघुबीर कै।'* दासी कहकर उसीकी पुष्टता यहाँ करते

हुए रघुनाथजीका अतिशय अमित सामर्थ्य और प्रभाव दिखा रहे हैं कि ऐसी प्रबला मायाको प्रभुके इशारेपर नाचना पड़ता है तब उनका सामर्थ्य कैसे अनुमान किया जा सकता है। अतः *'प्रभु'* कहा। मिलान कीजिये—*'जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे॥ भृकुटि बिलास नचावै ताही। अस प्रभु छाँड़ि भजिय कहु काही॥'* (१। २००। ४-५) आगे प्रभुका स्वरूप कहते हैं। २—*'अज'* यथा **'अजायमानो बहुधा विजायता'** इति श्रुतिः। ये सब विशेषण पूर्व बहुत बार आ चुके हैं।

गौड़जी—१ *'सोइ सच्चिदानंद—'* इति। (क) वही सत्-चित् और आनन्द है। सत् अर्थात् सम्पूर्ण सत्तारूप, चित् अर्थात् सम्पूर्ण चेतनरूप, आनन्द अर्थात् सम्पूर्ण आनन्दरूप। परन्तु सत्ता, चेतना और आनन्द सम्पूर्ण रूपमें चतुष्पाद विभूतिमें प्रसरित है। इसलिये सम्पूर्ण परात्पर निर्गुण ब्रह्मका अथवा विराट्का चतुष्पाद विभूतिरूप है। यहाँ राम प्रभु सगुण ब्रह्म हैं। परंतु सम्पूर्ण सत्ता, सम्पूर्ण चेतना और सम्पूर्ण आनन्द किस प्रकार हुए? सच्चिदानन्द जो चतुष्पादमें प्रसरित है वह सूक्ष्मरूपमें है, इन तीनोंकी सम्पूर्णता सगुण ब्रह्म भगवान् रामचन्द्रमें घनीभूत है। जैसे वटवृक्षके अत्यन्त नन्हें बीजमें सारा वृक्ष मौजूद है, उसी तरह भगवान् रामचन्द्रके दिव्य विग्रहमें सच्चिदानन्दकी सम्पूर्ण सत्ता निहित है। परंतु ऐश्वर्य यह है कि सूक्ष्मरूपमें नहीं बल्कि घनीभूतरूपमें यह अवस्था कल्पनातीत है। कोई अधिकारी ही जानते हैं। यथा—*'चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥'* (२। १२७। ५) (ख) *'अज'* इति। भगवान् रामचन्द्रने कौसल्याजीके कोखसे जन्म लिया है, ऐसी बात सर्वसाधारणमें प्रसिद्ध है, किंतु वास्तवमें भगवान् कभी गर्भमें नहीं आये। *'जा दिन ते हरि गर्भहिं आए'* में *'हरि'* का अर्थ है 'वायु'। श्रीरामजीका दिव्य विग्रह तो उनके सायुज्य मुक्त पार्षदरूपी कणोंसे बना हुआ है। यथा—*'सुर समूह बिनती करि पहुँचे निज निज धाम। जगनिवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक बिश्राम॥'* इसलिये यहाँ अज कहा। अर्थात् जिसका कभी जन्म नहीं हुआ।

रा० प्र०—*'अज'* का भाव जिसके जन्मादि दिव्य हैं और जिसके जन्मादिकथनमें वेद भी थके। प्राकृतवत् प्रादुर्भावरहित। (खर्रा)

गौड़जी—*'बिज्ञान रूप'* इति। यह ज्ञान या प्रतीति कि यह सत्तामात्र, चेतनामात्र और आनन्दमात्र सब कुछ ब्रह्म ही है—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'** (छा० ३। १४। १) (यह सब निश्चय ब्रह्म ही है) विज्ञान है। इस प्रतीतिका रूप स्वयं विज्ञान भगवान् हैं। यथा—**'विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिविशन्तीति॥'** (तै० ३। ५) (अर्थात्) विज्ञान ब्रह्म है, ऐसा जाना। क्योंकि निश्चय विज्ञानसे ही ये सब जीव उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर विज्ञानसे ही जीवित रहते हैं और फिर मरणोन्मुख होकर विज्ञानमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं। इसीसे भगवान् विज्ञानरूप हैं। विज्ञानरूपसे केवल ब्रह्मतन्मयता सूचित होती है और यह फिर निर्गुणको ही प्रतिपन्न करने लगता है, अतएव कहा कि भगवान् 'बलधाम' भी हैं। अर्थात् सम्पूर्ण बल हैं और सम्पूर्ण तेज हैं, जिसके सहारे प्रत्येक क्षणमें उद्भव, स्थिति, संहार होता रहता है। बलका तेजके साथ होना आवश्यक है। तात्त्विक तेजहीन बल केवल तमोगुणकी सूचना देता है।

रा० प्र०—*'अज'* है पर यदि बुझाने हेतु कहा भी चाहे तो वह विज्ञानरूप है और गुणधाम है, गुणमात्र है। भाव कि *'निर्गुन नाम गुनै को भाई गुणनि में गुन न रहै। जैसे मृतपिंड धरो अंग भाग नहीं करो भीतर सब भाव भरो॥'*

खर्रा—विज्ञानरूप=यावत् अनुभव है, उस सबके मुख्य अधिष्ठानरूप।

ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघ सक्ति भगवंता॥ ४॥
अगुन अदभ्र* गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥ ५॥
निर्मम† निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख-संदोहा॥ ६॥
प्रकृतिपार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥ ७॥

* अदर्भ—(का०) † निर्मल-(का०, रा० गु० द्वि०)

शब्दार्थ—**व्याप्य**=जिसमें आप व्याप्त हैं वह विश्व। **अदभ्र—द्रभ्र**=अल्प, थोड़ा। **अदभ्र**=बृहत्, पूर्ण, सम्पूर्ण। =अटूट—(पाँ०) बहुत-'**अदभ्रं बहुलं बहु**'—**इत्यमरः**। **प्रकृति**=मूलप्रकृति, अव्याकृत, आद्याशक्ति, महामाया, मूलकारण। जगत् प्रकृतिका ही अनेक रूपोंमें प्रवर्तन है। **निरीह**=ईहारहित। **ईहा**=उद्योग, इच्छा।=घटना-बढ़ना इत्यादि देहकी चेष्टा। **बिरज**=निर्मल, विकाररहित। बे-ऐब, निर्दोष।

अर्थ—(वे ही) प्रभु व्यापक और व्याप्य, अखण्ड (पूर्ण, अविच्छिन्न), आदि-अन्तरहित, सम्पूर्ण, अमोघशक्ति (जिसकी शक्ति व्यर्थ वा निष्फल नहीं होती), षडैश्वर्य्यवान्, निर्गुण, अखिल ब्रह्माण्डादिसे भी बड़े, वाणी और इन्द्रियोंसे परे, सब देखनेवाले, निन्दा वा दोषसे रहित, अजित, ममतारहित, निराकार, मोहरहित, नित्य, मायारहित, सुखराशि, प्रकृतिसे परे, समर्थ, सबके हृदयमें रहनेवाले, ब्रह्म, चेष्टारहित, विरज और अविनाशी हैं॥ ४—७॥

☞ ये सब विशेषण पूर्व १। १३। ३-५, १। १९८-१९९, १। २०५ तथा अयोध्या और अन्य काण्डोंमें आ चुके हैं। पाठक वहीं देखें।

नोट—१ *'व्यापक व्याप्य'* इति। '**यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति।**' (बृ० ३। ७। ३) '**यस्य आत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति।**' (श० प० ब्रा० १४। ६। ६। ५। ३०) (अर्थात्) पृथिवी जिसका शरीर है, जो पृथिवीका उसमें व्याप्त रहकर नियमन करता है। आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्माका उसमें व्याप्त रहकर नियमन करता है—इस प्रकार समस्त जड़-चेतन परम पुरुषके शरीररूपसे नियाम्य होनेसे उन्हें व्याप्य भी कहा गया। इसीसे श्रुति कहती है—'**सर्वं खल्विदं ब्रह्म।**' (छां० ३। १४। १)

भगवान् रामानुजाचार्यजी (गीता ९। ५ के भाष्यमें) कहते हैं कि भगवान्का भूतोंको धारण करना घटादि पात्रोंके जल आदि पदार्थोंको धारण करनेके समान नहीं है। केवल प्रभुके संकल्पसे ही उनका धारण हो रहा है। यह भगवान्का असाधारण आश्चर्यमय योग है।

भगवान् शङ्कराचार्यजी '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति**' की व्याख्या करते हुए कहते हैं—यह सब ब्रह्मरूप किस प्रकार है? ऐसा प्रश्न होनेपर श्रुति कहती है—'**तज्जलानिति**' तेज, अप् और अन्नादि क्रमसे सारा जगत् उस ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये यह 'तज्ज' है तथा उसी जननक्रमके विपरीत क्रमसे उस ब्रह्ममें ही लीन होता है अर्थात् तादात्म्यरूपसे उसमें मिल जाता है, इसलिये 'तज्ज' है और अपनी स्थितिके समय उसीमें अनन प्राणन यानी चेष्टा करता है इसलिये 'तदन' है। इस प्रकार ब्रह्मात्मरूपसे वह तीनों कालोंमें समान रहता है, क्योंकि उसका उस-(ब्रह्म-) के बिना ग्रहण नहीं किया जाता। अतः वह (ब्रह्म) ही यह सारा जगत् है।

रा० प्र०—*'व्यापक व्याप्य अखंड'* का भाव कि एक ही है और अनेक भी भासता है फिर भी 'अखण्ड' है।—ये सब विरुद्ध गुण एक साथ उनमें हैं; वे ऐसे समर्थ हैं।

खर्रा—भाव कि यावत् देशकालपात्र व्याप्य है उस सबमें समष्टि-व्यष्टिरूपसे परिपूर्ण और सकल पदार्थोंमें सूक्ष्मांश करके व्याप्य है। अखण्ड-देशकालपात्र विशेष खण्डित नहीं।

नोट—'अखण्ड' में '**ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥**' का भाव भी आ जाता है। अखण्ड, यथा—*'उमा एक अखंड रघुराई। नर गति भगत कृपाल देखाई॥'* (६। ६०। १८)

गौड़जी—१ (क) प्रभु व्यापक हैं अर्थात् सत्तामात्रमें व्याप रहे हैं। परंतु फिर सत्ता कैसे हुए, व्यापक और व्याप्य जबतक एक न होगा, सम्पूर्ण सत्ताका ब्रह्मसे एकत्व प्रतिपादन नहीं हो सकता, इसीलिये भगवान् व्याप्य भी हैं।—'**व्याप्यव्यापकभेदेन भवानेव जगन्मयः।**'

जो वस्तु किसीमें व्याप सकती है और पूर्णतया नहीं व्यापती तो व्याप्यपदार्थके व्यवधानसे उसकी व्यापकता खण्डित हो जाती है। व्याप्य भी यदि व्यापकसे अलग है तो व्यापक उसकी व्याप्यताको खण्डित कर देता है। उसकी अखण्डिता व्यापक और व्याप्यकी एकतासे ही सम्भव है। इसीलिये भगवान् रामचन्द्रको अखण्ड कहा। (ख) व्यापक, व्याप्य और अखण्ड होनेसे जितनी कुछ सत्ता है सब एक और समरूप

हुई। ऐसी दशामें भी यह सम्भव है कि यह सत्ता कहीं जाकर खतम हो जाती हो, अर्थात् सान्त हो। इसीलिये कहते हैं कि भगवान्‌की सत्ता अनंत है। परंतु वह किस तरहका अनंत है? क्या रेखाकी तरह अनंत है? रेखा तो तलमें जाकर 'सान्त' हो जाती है अर्थात् अनंत रेखाएँ मिलकर तल बनाती हैं और अनंत तलोंका समूह घन बनाता है और अनंत घनोंसे विश्वमें पिण्डोंका मान होता है। देशके लिये यही तीन दैर्ध्य, बेध और प्रस्थ—यही दिशाएँ मान समझी जाती हैं। देश अनंत है तो क्या भगवान्‌की अनंतता देशकी तरह है? नहीं, देश भी अन्ततोगत्वा सान्त है और काल जो अनंत कहलाता है वह चतुर्दिक् है। वह भी अन्ततः सान्त हो जाता है। इन सब अनंतोंको अनन्तता प्रदान करनेवाली वह ब्रह्मसत्ता फिर किस तरहकी अनन्तता रखती है? उसी अनन्तताका पता देनेके लिये आगे *'अखिल'* शब्दका प्रयोग किया है। (ग) अखिल=जिसका खिल या अवशिष्ट कुछ भी न हो। रेखाकी अनन्तता लेनेपर तलकी अनन्तता अवशिष्ट रहती है, देशकी अनन्तता लेनेपर कालकी अनन्तता अवशिष्ट रह जाती है, इसीलिये अखिल अनन्त कहा। अर्थात् सब प्रकारसे, सब ओरसे, सब तरहसे अनन्त हैं। [अखिल=खिल अर्थात् न्यूनतारहित। (खर्रा) पुनः, *'अखिल'* का भाव कि कोई सामर्थ्य नहीं जो उनमें न हो। (पं० रा० व० श०)] (घ) *'अमोघ सक्ति'* इति। परंतु अनन्तमें शक्तिकी जो अनन्तता आती है तो उसे सब ओर बराबर होना चाहिये क्योंकि वह अनन्तता है और अनन्तता स्वयं जड़ है, उसमें शक्तिको धारण करनेका सामर्थ्य कहाँ है, इसीलिये कहते हैं कि प्रभु अमोघशक्तिसम्पन्न षडैश्वर्य्यवान् हैं। शक्ति अमोघ है अर्थात् अचूक है, अव्यर्थ है। यों तो अमोघ भगवान्‌का एक नाम ही है—'**अमोघः पुण्डरीकाक्षः**'—(विष्णुसहस्रनाम) परंतु यहाँ वह शक्तिका विशेषण है। अर्थात् भगवान्‌की शक्ति सदा प्रयोजनसे प्रयुक्त होती रहती है क्योंकि वह षडैश्वर्य्यवान् है।

२—*'अगुन अदभ्र——'* इति। प्रकृतिके लिये भी अखण्ड, अनन्त, अखिल, अमोघशक्ति, भगवती आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं, परंतु प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और भगवान् अगुण हैं अर्थात् '**सत्त्व रजस् तमस्**' रहित हैं। गुणहीनतासे कमी आ गयी। इस कमीकी कल्पनाका भी निराकरण करते हैं। कहते हैं कि प्रभु '**अदभ्र**' हैं अर्थात् अगुण होनेपर भी उनमें कोई कमी नहीं आयी बल्कि तीनों गुणोंके न होनेसे प्रभुकी सत्ता अत्यन्त बढ़ी हुई है। [पुनः, अदभ्र=थोड़ा नहीं किन्तु बहुत। श्रुति कहती है कि ब्रह्म आकाशसे, पृथिवीसे तथा सब लोकोंसे बड़ा है। यथा '**ज्यायान् आकाशात् ज्यायान् पृथिव्या ज्यायान् एभ्यः सर्वेभ्यो लोकेभ्यः।**' यह सूचित करनेके लिये *'अदभ्र'* कहा। (पं० रा० व० श०) पुनः, अदभ्र=कर्मातीत। (रा० प्र०)] वह गुणोंसे परे हैं और उनकी सत्ता इतनी बढ़ी हुई है कि वाणी और इन्द्रियोंकी वहाँतक गति नहीं है। जब सत्ता इतनी बढ़ गयी तब ऐसा भी सम्भव है कि समस्त सृष्टिको तुच्छ दृष्टिसे देखते हों अथवा अपनी सत्तासे मुकाबिला करके किसीको बड़ा, किसीको छोटा समझते हों। ऐसा भी नहीं है। वह *'सबदरसी'* अर्थात् समदर्शी हैं। सबको यथार्थरूपसे देखते हैं और सबपर समान भाव रखते हैं। और अगुण होनेके कारण कोई इसे दोष भी नहीं कहता। इसीलिये अनवद्य अर्थात् निर्दोष कहा और अगुण होनेसे कोई गुणसहित देवता प्रभुसे प्रबल हो जाय ऐसा भी सम्भव नहीं क्योंकि प्रभु *'अजीता'* हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रभुसे औरोंसे लड़ाई होती रहती है और प्रभु उसमें प्रबल सिद्ध होते रहते हैं। प्रभुसे किसीसे लड़ाई क्यों हो क्योंकि *'प्रभु सेवकहि समर कस।'* [अजीता अर्थात् जिसकी एक-एक शक्ति कालादिमें अजेय है, कोई उसके समान या उससे अधिक नहीं। रा० प्र०] फिर—

३—*'निर्मम निराकार——'* इति। प्रभु तो *'निर्मम'* हैं अर्थात् बाह्य जगत्‌से प्रभुका कोई सम्बन्ध नहीं है। और जो यह कहा जाय कि *'जेहि जन पर ममता अति छोहू'* प्रभुको अपने जनपर तो बड़ी ममता है, *'निर्मम'* कैसे हैं? तो इस प्रसङ्गमें समझना चाहिये कि यहाँ *'अगुन'* से लेकर *'अबिनासी'* तक भगवान् रामचन्द्रका निर्गुण रूप वर्णित है। इसीलिये *'निर्मम'* के आगे *'निराकार'* कहा। अर्थात् इनका कोई आकार नहीं है, निराकारका एक अर्थ 'गुप्त' भी है। अर्थात् बिना आकारका सर्वव्यापक होते हुए भी गुप्त है। [पुनः निराकार=मायिक आकारोंसे रहित। (पं० रा० व० श०)।=इत्थंभूत आकारसे

रहित (खर्रा)] वह निर्मोह है अर्थात् मोहमायासे रहित है। वह नित्य है अर्थात् सचेत, शाश्वत, निरन्तर, सत् और अनाद्यन्त है।] पुनः, अभाव दो प्रकारका होता है—एक 'प्रागभाव' दूसरा '**प्रध्वंसाभाव**'। **जो** इन दोनोंका प्रतियोगी हो वह अनित्य है। अर्थात् जिसके विषयमें यह कह सकें कि पहले इसका अभाव था या यह कि पहले इस जगह कुछ था वह अब यहाँ नहीं है, वह अनित्य है। और जिसको ऐसा न कह सकें कि ऐसा न था या अब नहीं है वह *'नित्य'* है। (पं० रा० व० श०)] वह निरञ्जन है अर्थात् वह शुद्ध और निर्लेप है, असत्य और बनावट उसे छू भी नहीं गयी है। [पुनः, 'निरञ्जन=अञ्जन अर्थात् मायारहित। अर्थात् माया जिसके रूपको बदल नहीं सकती, जिसका रूप सदा एकरस है। (पं० रा० व० श०)। = योगीध्येय ज्योतिस्वरूप। (रा० प्र०)] इन सबके होते हुए भी वह सुखका संदोह है, आनन्दका सिंधु है। यथा ***'जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी॥'*** (१। १९७। ५) **'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्'** (तै०। ३। ६। १)

४ ***'प्रकृतिपार—'*** इति। प्रभु प्रकृतिसे परे हैं, परंतु तो भी प्रकृतियोंके प्रभु हैं—'**यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥**' और प्रभु सर्व उरवासी भी हैं—'**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**' उरपुरवासी होते हुए भी 'निरीह ब्रह्म' हैं अर्थात् किसी कर्मका कर्तृत्व अपने ऊपर नहीं लेते। शुद्ध ज्ञानरूप हैं, साक्षिरूप हैं, इच्छा और क्रियासे कोई सम्बन्ध नहीं है। विरज अर्थात् शुद्ध निर्दोष और निर्लेप हैं और अविनाशी हैं।

रा० प्र०—***'ब्रह्म'*** अर्थात् उसे स्त्री-पुरुषरूपादि नहीं मान सकते। ***'प्रभु'*** अर्थात् जो चाहे करे या न करे और जिस रीतिसे चाहे करे ***'मालिक तावे नहीं किसीके'*** *'त्रिन ते कुलिस कुलिस त्रिन करई।'* ***'सब उर बासी'*** अर्थात् व्यापक कूटस्थ साक्षी।

नोट—२ (क) प्रकृतिपार होनेपर भी ***'सब उर बासी'*** हैं, अतः 'प्रभु' कहा। (पं० रा० व० श०) ब्रह्म अर्थात् उसे स्त्री-पुरुषरूपादि नहीं मान सकते। (रा० प्र०) बृद्धतम (सबसे बड़ा) होनेके कारण वह (जगत्का कारण) ब्रह्म कहलाता है—'**बृद्धतमत्वाद् ब्रह्म।**' (शाङ्करभाष्य छा० ३। १४। १) (ख) अविनाशी और नित्यमें भेद है। बहुतसे नित्य पदार्थ भी प्रलयमें नाशको प्राप्त हो जाते हैं। इसीसे फिर प्रकृतिपार आदि कहकर ***'अबिनासी'*** विशेषण देकर जनाया कि इनका नाश कभी नहीं होता। (पं० रा० व० श०) पुनः, नित्य अर्थात् अमृत। ***'अबिनासी'*** अर्थात् जिसमें सबका प्रलय हो रहता है—***'उत्पति पालन परलय हू करके जो नित रहत अकेला है।'***, ***'सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।'*** (रा० प्र०)

इहाँ मोह कर कारन नाहीं । रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं॥८॥

दो०—भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥
जथा अनेक बेष धरि नृत्य करै नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥७२॥

शब्दार्थ—**कारन**=जिसका किसी वस्तु वा क्रियाके पूर्व सम्बद्धरूपसे होना आवश्यक हो; जिससे दूसरे पदार्थकी सम्प्राप्ति हो; मूल।

अर्थ—यहाँ मोहका (कोई) कारण नहीं है। क्या अन्धकार कभी सूर्यके सामने जा सकता है?* अर्थात् कभी नहीं जा सकता॥ ८॥ भगवान् प्रभु रामचन्द्रजीने भक्तोंके लिये नृपशरीर धारण किया और साधारण मनुष्योंके सदृश (अनेक परन्तु) परम पावन चरित किये। जैसे कोई नट अनेक वेष धारणकर नाच करता है और वही-वही (अर्थात् भिक्षुक, राजा, स्त्री, पशु इत्यादि जिसका रूप उसने धारण किया

* अर्थान्तरन्यास।

है, जो स्वाँग वा वेष रचा है उसके अनुकूल) भाव दिखाता है परंतु स्वयं वही नहीं हो जाता।* (इसी प्रकार भगवान्‌ने प्राकृत राजाका रूप धारणकर प्राकृत नरके अनुसार चरित भी किये, पर इन चरितोंके करनेसे एवं प्राकृत नरवेष ग्रहण करनेसे वे 'प्राकृत नर' नहीं हो जा सकते)॥ ७२॥

नोट—१ (क) *'इहाँ मोह—'* इति। इसी प्रकार शिवजीके वचन पार्वतीप्रति हैं—*'जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा॥ राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥'* (११६। ४-५) देखिये।

(ख)—*'इहाँ मोह कर कारन—'* इति। मोहका कारण अविद्या माया है। उपर्युक्त तैंतीस विशेषणवाले श्रीरामजीमें मोहका कारण नहीं है, अविद्याको यहाँ स्थान नहीं है। *'रबि सनमुख तम—'* कहकर जनाया कि श्रीरामजी सूर्यरूप हैं और मोह तम (अन्धकार) है। जिसके उदयके पूर्व ही अन्धकार दूर हो जाता है, उस सूर्यके सामने अन्धकार कब आ सकता है। इसी तरह *'राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥'* जिसको सूर्यके सामने अन्धकार दिखायी पड़े उसके चर्मचक्षुओंमें ही दोषकी सम्भावना है। उसे मानना चाहिये कि आँखोंके सामने अन्धकार है, सूर्यके सामने अन्धकार नहीं है। इसी तरह यदि श्रीरामजीमें मोहकी प्रतीति हो तो समझना चाहिये कि अपनी बुद्धिमें मालिन्य है।

पं० रा० व० श० जी लिखते हैं कि इसी तरह जिसके हृदयमें परब्रह्मका आविर्भाव होनेवाला होता है उसके हृदयसे अविद्यादि पहले ही नष्ट हो जाते हैं, तब भला स्वयं परब्रह्मको कब मोह हो सकता है?

गौड़जी—भक्तोंके हेतु भगवान् प्रभु रामने राजाका शरीर धारण किया। *'भगत हेतु'* से तात्पर्य यह है कि जय-विजयके लिये, नारदके लिये, मनु-शतरूपाके लिये, प्रतापभानुके लिये, दशरथ, कौसल्या, वसिष्ठ आदिके लिये, अवधपुर और जनकपुरवासियोंके लिये, जनकमहाराजके लिये, निषाद और केवटके लिये, रास्तेके ग्रामों और वनके वासियोंके लिये, अत्रि-सुतीक्ष्ण-अगस्त्यादि ऋषियोंके लिये, गृध्र, शबरी, असंख्य वानर-भालु और अगणित राक्षसोंके लिये—जिन सबोंको किसी-न-किसी समय कृतार्थ करनेकी प्रतिज्ञा की थी, उन सब भक्तोंके लिये भगवान्‌ने राजाका शरीर धारण करके साधारण मनुष्यकी तरहके परम पवित्र चरित्र किये।

---

* १—उदाहरण अलङ्कार। २—(क) नंगे परमहंसजी—'जो जो भाव देखावै आपु न होइ न सोइ'='और जो जो भाव दिखाता है सो भाव न होइ और न आपु होइ'। न तो वह नट वेष ही है और न वह भाव ही है। अर्थात् वेष भी नट नहीं है और भाव भी नट नहीं है। वेष और भाव दोनोंसे नट न्यारा है। उसी तरह श्रीरामजी भूपतन नहीं हैं और जो-जो लीलाचरित करते हैं सो-सो लीलाचरित उनमें नहीं हैं। लीला मात्र देखनेमें है जैसे नटकी लीला नटमें नहीं है देखनेमात्र है'।

(ख) पां०—नाचना और भाव दिखाना नटका है, जिसका वह भाव दिखाता है उसका नहीं है।

(ग) वै०—जैसे नट वेश्या, ढाढ़ी, धोबी, कहारादि अनेक वेष धर-धरकर नृत्य करता है। जब जो वेष धारण करता है तब उसी वेषके अनुकूल भाव दिखाता है। जैसे कि जब धोबी या धोबिन बनकर आता है तब एकको गर्दभ बनाकर उसपर वस्त्र लाद लेता है, एक चादर बिछाकर नदी बना लेता है, एकको पीठ ऊपरकर पौढ़ाकर पाटा बना लेता है और उसपर कपड़ा पटक-पटककर धोता है, धोतेमें धोबियोंके-से गीत गाता है—इत्यादि, सब वेष सच्चा; सब भाव सच्चा, परन्तु आपु जो वह नट है सो न तो धोबी हो जाता है और वह जो वेष है वह भी धोबी नहीं है, केवल प्रयोजनमात्र सब व्यापार है। इसी प्रकार श्रीरामजी राजकुमार-वेष धरकर मनुष्यभाव दिखाते हैं। वह वेष सत्य है, वह लीला सत्य है, परंतु न वह वेष मनुष्य है और न रघुनाथजी मनुष्य हो गये।

नोट—वै० और श्रीनंगे परमहंसजीके अर्थोंसे ऐसा जान पड़ता है कि वे 'आपुन होइ न सो' को 'आपु न होइ न सो' इस तरह अन्वय लेकर अर्थ करते हैं। इसीसे 'आपु न होइ' और 'सो (भाव) न होइ' ऐसा अर्थ करते हैं। पर 'आपुन' एक शब्द है। यह देशबोली है, 'आप' की जगह आपुन वहाँ बोला जाता है। इसका प्रयोग ग्रन्थमें और भी आया है, यथा—'तिन्हहिं ग्यान उपदेसा रावन। आपुन मंद कथा सुभ पावन।' (लं० ७७। १) 'आपुन उठि धावै रहै न पावै धरि सब घालै खीसा।' (१। १८३। छंद) 'आपुन चलेउ गदा कर लीन्ही।' (१। १८२। ४) इत्यादि।

नोट—२ *'भगवान प्रभु राम धरेउ'* और *'प्राकृत नर अनुरूप'* पदोंसे जनाया कि परात्पर ब्रह्म राम जिनको श्रुति-पुराण पंचरात्रादिमें 'नर' (अर्थात् द्विभुज) कहा है, उन्होंने अब 'प्राकृत-नर-रूप' धारण किया है। *'प्राकृत नर'* का भाव यही है कि उनका परात्पररूप अप्राकृत नर-रूप है। यथा—'**द्विभुजः कुण्डली रत्नमाली धनुर्धरः**।', '**द्विभुजश्चापभृच्चैव**।', '**द्विभुजमेकवक्त्रं च रूपमाद्यमिदं हरेः**।'(नारदपञ्चरात्र) और भी प्रमाण पूर्व आ चुके हैं।

'परम पावन' से अपावन, पावन और परमपावन तीनका होना पाया जाता है। अपावन वह जो स्वयं अपवित्र है, पावन जो स्वयं पवित्र है और परमपावन जो स्वयं पवित्र है और दूसरोंको पवित्र करता है। पुनः, अधर्ममय चरित अपावन, धर्ममय चरित पावन और भगवत्‌के चरित परमपावन हैं। पुनः, प्राकृत नरचरित अपावन भी होते हैं। प्रभुके प्राकृत-नर-चरित्र परमपावन हैं, हैं तो प्राकृत नरके-से चरित पर दूषित नहीं हैं।

जैसे शिवजीने प्रभुका ऐश्वर्यस्वरूप वर्णनकर फिर यह दिखाया कि ये सगुणस्वरूप रामचन्द्रजी वही हैं, वैसे ही भुशुण्डिजीने यहाँ ऐश्वर्य कहकर समझाया कि जिनके ये विशेषण हैं वे यही राम हैं, जो भक्तहित नरचरित कर रहे हैं। *'जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई।'* (१। ११८। ३) से *'ज़ेहि इमि गावहि बेद बुध——'।* (११८) तक देखिये।

३—*'भगत हेतु——धरेउ तनु भूप'* इति। *'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥ ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥ सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल——'* (१। १३। ३—५) और (१। २०५) सुं०, इत्यादिमें अनेक ठौरपर यही बात कही है और यहाँ दिये हुए विशेषण भी बहुत बार आ चुके हैं, वहाँ उनके विशेषण भाव पाठक देख लें।

१ २ ३ ४ ५ ६
'ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्याके गोद॥' (१। १९८)

७ ८ ९ १०
'सुखसंदोह मोहपर ज्ञान-गिरा गो तीत। दंपति परम प्रेम बस कर सिसु चरित पुनीत॥' (१। १९९)

११ १२ १३ १४
'ब्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप। भगत हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप॥' (१। २०५)

नोट—४ *'जथा अनेक बेष——'* इति। नागपाश-प्रसङ्गमें पार्वतीजीको शिवजीने इस प्रकार यही दृष्टान्त देकर समझाया है, यथा—*'नट इव कपट चरित कर नाना। सदा स्वतंत्र एक भगवाना॥ रनसोभा लगि प्रभुहि बँधायो।'* (लं० ७२। १२-१३) जो भाव वहाँ कहे गये हैं वही यहाँ भी हैं। लं० ७२ (११) से ७३ तक देखिये।

भा० १। १५ में ऐसे ही वाक्य श्रीसूतजीके हैं—जैसे नट वेष धरकर अभिनय करता है और फिर उनको त्याग देता है, वैसे ही भगवान् अनेक कार्योंके लिये मत्स्यादिरूप धारण करते हैं और त्यागते हैं। यथा—'**यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद्यथा नटः। भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम्॥**'(३५)

गौड़जी—*'जथा अनेक बेष धरि——'* इति। श्रीरामजीका विग्रह दिव्य है, नित्य है और अप्राकृत है, परंतु राजाका रूप और राजाका चरित अनित्य है और राजाके अनुरूप जो चरित किये गये हैं वे परमपवित्र हैं और साधारण मनुष्यके अनुरूप हैं। जैसे कोई नट अनेक वेष धरकर अभिनय करे और उन्हीं वेषोंके अनुरूप तरह-तरहके भाव दिखावे तो भी वह उसी वेषका धरनेवाला प्राणी नहीं हो जाता, ठीक इसी तरह भगवान् रामचन्द्रजीने भूपरूपसे अनेक भाव दिखाये और भाँति-भाँतिके अभिनय किये; परंतु इससे वह प्राकृत राजा नहीं हो गये। यथा—*'नरतन धरेहु संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥'* (२। १२७। ६) *'आपुन होइ न सोइ'* अर्थात् भगवान् प्राकृत राजाकी तरह आचरण करते हुए भी प्राकृत राजा हो नहीं जाते।

पं० रा० व० श०—*'जथा अनेक बेष——'* इति। भाव कि नरनाट्य—स्त्रीके लिये विलाप इत्यादि—भक्तोंके

लिये करते हैं कि *'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं।'* जैसे (राजा, साधु, व्यापारी आदि कोई भी वेषधारी) नट न राजा हो न साधु न व्यापारी इत्यादि, वह तो ज्यों-का-त्यों नट बना है; वैसे ही वह सच्चिदानन्द निरञ्जन इत्यादि ब्रह्म जैसा-का-तैसा सच्चिदानन्द निरञ्जन इत्यादि बना ही है, नरवेष धारणकर नरनाट्य करनेसे वह प्राकृत नर नहीं हो जाता।

रा० प्र०—अनेक वेष धरकर नृत्य करता और वही-वही भाव दिखाता है पर सो आप नहीं हो जाता वैसे ही 'घट-घटमें जिनकी जैसी भावना है वैसा ही नरनाट्य दिखाते हैं' भाव-भेदसे उपासक, ज्ञानी आदि उस अपार सागरमेंसे अपनी-अपनी बुद्धि-विद्या-पात्रतानुसार भर लेते हैं।—*'जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी॥'* (१। २४१) आप तो जैसे हैं वैसे ही सदा रहते 'परम द्विभुज परमात्मा परात्परनिराकारादिमें भी' पर भक्तोंको उनकी भावानुसार 'जैसी छाया पड़ी पुरुष-नारि, नृसिंहादि अद्भुतरूप बनाकर' भाव दिखाते हैं। पर आप सो नहीं हो जाते, आप तो ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं।

खर्रा—'अनेक वेष धरकर कोई नट नृत्य करता है और तदनुरोध उसी-उसी भावको दिखाता है और आप सोई नहीं होता। जैसा-का-तैसा वह उस दुःख-सुखसे भिन्न रहता है। दूसरेको ही अपने अज्ञानसे उसी नटमें दुःख-सुख भासता है। पर नटके जनको नहीं भासता, ऐसा ही लीलामें यथासम्भव जानना चाहिये, यही बात आगे कहते हैं—*'असि रघुपति……।'*

असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥ १॥
जे मति मलिन बिषयबस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी॥ २॥
नयन दोष जा कहँ जब होई। पीत बरन ससि कहुँ कह सोई॥ ३॥

शब्दार्थ—'उरग'=पेटके बल चलनेवाले जन्तु; सर्प। 'धरना'=स्थापित करना; ठहराना, आरोपित करना। इमि=इस प्रकार। यथा—*'इमि कुपंथ पग देत खगेसा।'* (३। २८। १०) 'नयन दोष'=काँवरू, कमलरोग, पीलियारोग।

अर्थ—हे उरगारी! ऐसा ही श्रीरघुनाथजीका नरनाट्य है जो राक्षसों-(आसुरी सम्पत्तिवालों-) को विशेष मोहित करनेवाला और भक्तोंको सुख देनेवाला है॥ १॥ हे स्वामिन्! जो मलिनबुद्धि, विषयवश और कामी लोग हैं वे ही प्रभुपर इस प्रकार मोहका आरोपण करते हैं॥ २॥ जब जिसको नेत्र-दोष होता है तब वह चन्द्रमाको पीले रंगका कहता है॥ ३॥

पं० रा० व० श०—*'असि रघुपति लीला।'* भाव यह कि जिसको इस प्रकार उपनिषद् गाते हैं उसमें कोई तबदीली वा विरुद्ध स्थानापत्ति आदि नहीं हुई। आसुरी बुद्धिवाले व्यामोहित होकर कहते हैं कि ईश्वर ये नहीं हो सकते और भक्त कहते हैं कि देखो तो प्रभु अपनेको कैसे छिपाये हुए हैं, स्वतन्त्र होकर भी अपनेको नागपाशमें बँधाया है।

नोट—१ *'असि'* अर्थात् नटवत्, जैसा ऊपर कह आये। २—*'दनुज बिमोहनि……'* इति। *'जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे।'* (अ० १२७। ७) आ० मं० सोरठा *'उमा रामगुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति……।'* और *'गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुर हित दनुज बिमोहन सीला॥'* (१। ११३। ८) में देखिये। दनुजसे केवल राक्षस नहीं, दनुसंतति ही नहीं, वरन् आसुरी-सम्पत्तिवाले सभी लोग और 'जन' से दैवीसम्पत्तिवाले भक्तिशील अभिप्रेत हैं। एक ही वस्तुसे भिन्न-भिन्न विपरीत कार्य होना 'व्याघात अलङ्कार' है।

३—यहाँ पाँच दृष्टान्त दिये गये हैं। ब्रह्ममें जगत्का अध्यास अथवा नटमें अभिनीत भावका अध्यास अथवा रामप्रभुमें प्राकृत नरका अध्यास यही एक बात यहाँ अनेक उदाहरणोंसे दिखलायी गयी है। यह एक प्रकारका अलङ्कार है। अ० रा० इसी बातको दो दृष्टान्त देकर समझाता है, दो दृष्टान्त देकर 'आदि' पद दिया है दोहा ७३ (६) देखिये। यहाँ गोस्वामीजीने पाँच उदाहरण दिये हैं जिसमें पाठक खूब समझ सकें। पुनः कह सकते हैं कि 'नयन-दोष' से चार दृष्टान्त चार भावके हैं—पहले दृष्टान्तसे रूपविपर्यय, दूसरेसे विरुद्ध स्थानापत्ति, तीसरे और चौथेसे 'अन्यस्मिन् अन्यधर्माध्यास' दिखाया। (पं० रा० व० श०)

४—बा० ११५ (४) में शिवजीने पार्वतीजीसे *'मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥'* ऐसा कहा है और भुशुण्डिजी यहाँ लगभग उसी बातको *'नयन दोष जा कहँ जब होई। पीत—'* ऐसा कह रहे हैं। दोनोंमें दो बातें हैं। वहाँ *'नयनबिहीन'* कहा। तब कहा कि उनको रामरूप दिखाता ही नहीं; क्योंकि अंधे हैं और यहाँ नेत्रका होना निश्चित करते हैं। पर उन नेत्रोंमें रोग है, यह कहते हैं। इसीसे कहते हैं कि रूप देखते तो हैं पर उन्हें रोगके कारण कुछ-का-कुछ दिखायी देता है। पुनः यह भी कह सकते हैं कि वहाँ रूपका देखना असम्भव कहा और यहाँ उनको जानना असम्भव कहते हैं—*'ते किमि जानहिं रघुपतिहि मोह परे तम कूप।'* पर देखना और जानना भगवान्‌के सम्बन्धमें वस्तुतः एक ही हैं।

ज्ञान और वैराग्यको नेत्र कहा है—*'ज्ञान बिराग नयन उरगारी।'* प्राकृत शरीरके नेत्रमें काँवर रोग वैसे ही हृदयके नेत्रोंमें बुद्धिकी मलिनता (मोह) विषयवशता आदि दोष, यथा—*'जे मति मंद बिषय बस कामी।'* पीलियारोग होनेसे निर्मल स्वच्छ वस्तु पीतवर्ण दीखती है। वैसे ही हृदयके नेत्रोंमें मोह और विषय-रोग होनेसे उनको निर्मल निर्विकार रामजीमें 'मलिनता' (मोह) और 'काम' देख पड़ता है। चन्द्रमा प्रकाशमय उज्ज्वल है, पीत नहीं है, वैसे ही रामजी निर्मल, मोहप्रकृतिपार, सच्चिदानन्दघन, अखण्डज्ञान हैं, इनमें मोहादि विकार नहीं हैं। जिसको रोग है उसे उनमें रोग देख पड़ता है।—यहाँ रूप-अध्यास कहा।

रा० प्र०—१ *'रघुपति'* का भाव कि ये रघु अर्थात् जीवमात्रके स्वामी हैं, नियन्ता हैं, सारी सृष्टि इन्हींसे फैलती और फिर मकड़ीके सूतकी नाईं इन्हींमें गुप्त हो जाती है।

जब जेहि दिसिभ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उएउ दिनेसा॥ ४॥
नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोहबस आपुहि लेखा॥ ५॥
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परसपर मिथ्याबादी॥ ६॥

अर्थ—हे पक्षिराज! जब जिसे दिशाका भ्रम होता है तब वह कहता है कि सूर्य पश्चिममें उदय हुआ है॥ ४॥ नावपर चढ़ा हुआ जगको चलता हुआ देखता है और मोहवश अपनेको अचल (स्थिर न चलनेवाला) समझता है॥ ५॥ बालक घूमते हैं (कुछ) घर आदि नहीं घूमते पर वे आपसमें एक-दूसरेसे झूठ वाद कहते हैं (कि घर आदि घूम रहे हैं)*॥ ६॥

नोट—अ० रा० उ० ५ श्रीरामगीतामें लक्ष्मणप्रति रामजीका यह उपदेश है कि जगत्‌को भ्रममात्र अर्थात् असत्य इस तरह जानकर मुनि भ्रममें नहीं पड़ते कि जैसे चन्द्रमा एक है पर किसी कारणसे उसमें दोका भ्रम होता है। दिशाका भ्रम—

इत्थं यदीक्षेत हि लोकसंस्थितो जगन्मृषैवेति विभावयन्मुनिः।
निराकृतत्वाच्छ्रुतियुक्तिमानतो यथेन्दुभेदो दिशि दिग्भ्रमादयः॥ ५७॥

अर्थात् ब्रह्मदृष्टिवाला जगत्‌को देखता ही नहीं, यदि लोकसंस्थित होकर उसे देखता है तो इस तरह विचार करते हुए देखता है कि श्रुति, युक्ति और प्रमाणसे जगत् निराकृत (निषेध) किंतु जैसे दिग्भ्रमादिक हैं वैसे ही इसकी प्रतीतिको वह मिथ्या समझता है।

श्रीनंगे परमहंसजी—(इन चौपाइयोंका भाव है कि) 'जैसे भ्रमवश पश्चिममें पूर्वदिशाका निश्चय हो जाता है वैसे ही ब्रह्म श्रीरघुनाथजीको अज्ञानवश राजपुत्र निश्चय कर लेना यह दिशा-भ्रमकी तरह है। आप संसाररूप समुद्रमें अज्ञानरूप नौकापर चढ़ा चला जा रहा है अर्थात् आयु व्यतीत हो रही है परंतु अज्ञानवश चलरूप अपनेको अमर मान रहा है और अचल श्रीरघुनाथजी परब्रह्म, उनको भ्रमवश चल मान रहा है। *'बालक भ्रमहिं……'* यहाँ अति अज्ञानी जीव बालक हैं, घूमना सुखका उपाय करना है, मकानरूप श्रीरामजी अचल हैं। जैसे बालक घूमनेसे दुःखी होते हैं और मकानको झूठे घूमना कहते हैं तैसे ही

* १ वि० टी० अर्थ करती है कि-'इसी प्रकार झूठ बकवाद करनेवाले आपसमें कहते हैं कि रामचन्द्र मनुष्य हैं, परमात्मा हैं परंतु यथार्थमें मनुष्य तो कहनेवाले ही हैं। श्रीरामचन्द्रजी तो परमात्मा हैं, केवल मनुष्यलीला करते हैं।'

आप अति अज्ञानवश विषयसुखके लिये दुःखी होते हैं और मकानरूप अचल श्रीरघुनाथजी सुखस्वरूपको झूठे (घूमतेरूप) दुःखी बताते हैं कि वनमें दुःखी हो रहे हैं।'

रा० प्र०—रोगादिसे पहले इन्द्रियोंकी भ्रान्ति कही—'**नयन दोष**——' अब बुद्धिकी भ्रान्ति कहते हैं। ज्ञान बुद्धिका प्रकाशक है, बुद्धि और रीति (क) हो जानेसे उसमें अज्ञान आ जाता है। तीसरे दृष्टान्त '***बालक भ्रमहिं***——' में बताते हैं कि मस्तिष्क हृदय आदि बुद्धि ज्ञानके स्थान विकृत होनेसे नयनादि इन्द्रियाँ उनको और रीति ग्रहण करती हैं, इसीसे भ्रममें पड़ते हैं। २—ऊपर 'चन्द्र' और यहाँ 'रवि' में भ्रम कहकर दिन-रात भ्रममें पड़े हुए जनाया। ३—नभ (रवि, चन्द्र), जल (नौकारूढ़) और थल (दिशि), वा पावक (तेज), आकाश, पृथ्वी, जल और पवन (भ्रमना) पाँचों तत्त्वोंके दृष्टान्त दिये। ४—कोई कहते हैं कि चार प्रकारसे समझानेका भाव यह है कि यह चारों वेदोंका सिद्धान्त है।

पं० रा० कु० जी खर्रेमें लिखते हैं कि यहाँ प्रथम दृष्टान्तमें नयनदोष, दूसरेमें बुद्धिदोष, तीसरेमें साहचर्यदोष और चौथेमें व्यापारदोष दिखाकर इन दोषोंसे निर्दोष जो चन्द्रादि हैं उनमें दोष भासित होना दिखाया है।

वि० त्रि०—'***बालक भ्रमहिं——बादी***' इति। बुद्धिमालिन्यके तीन भेद हैं—(१) बुद्धिमान्द्य, (२) कुतर्क और (३) विपर्यय दुराग्रह। सो दिग्भ्रमका उदाहरण देकर बुद्धिमान्द्य कहा, नौकारूढ़का उदाहरण देकर कुतर्क कहा, अब विपर्यय दुराग्रहका उदाहरण देते हैं। 'बालक नहीं घूमते घर ही घूम रहा है' यह कहनेवाला भलीभाँति जानता है, कि घर नहीं घूम सकता, लड़के ही घूम रहे हैं, पर वह मिथ्यावादी है, उसे विपर्यय दुराग्रह है, वह सच्ची बात मान नहीं सकता, उलटा ही कहता चला जायगा।

हरि बिषइक अस मोह बिहंगा। सपनेहु नहिं अज्ञान प्रसंगा॥ ७॥
माया-बस मति-मंद अभागी। हृदय जमनिका बहु बिधि लागी॥ ८॥
ते सठ हठ बस संसय करहीं। निज अज्ञान राम पर धरहीं॥ ९॥

शब्दार्थ—**जमनिका** (**सं० यवनिका**)=परदा, काई। **बिषइक**=विषय-(सम्बन्ध-) का, सम्बन्धी। प्रसङ्ग=सम्बन्ध, लगाव। **हठ**=दुराग्रह।

अर्थ—हे गरुड़! भगवान्‌के विषयका भी मोह ऐसा ही है, (वहाँ तो) स्वप्नमें भी अज्ञानका लगाव नहीं है॥ ७॥ मायाके वश, मन्द-बुद्धिवाले, भाग्यहीन और जिनके हृदयपर बहुत प्रकारके परदे पड़े हुए हैं वा काई लगी हुई है वे ही मूर्ख हठके वश संशय करते हैं और अपना अज्ञान श्रीरामजीपर स्थापित करते हैं॥ ८-९॥

नोट—इसी प्रकार शिवजीके भ्रमभंजन वचन श्रीपार्वतीप्रति हैं।—दोनोंका मिलान।

श्रीशिवजी (सिद्धान्त)		श्रीभुशुण्डिजी (सिद्धान्त)
गिरिजा सुनहु राम कै लीला	१	*असि रघुपति लीला उरगारी।*
'पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़' 'सुरहित दनुज बिमोहन——'	२	*दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥*
नहिं तहँ मोह निसा लव लेसा	३	*इहाँ मोह कर कारन नाहीं।*
राम सच्चिदानंद दिनेसा जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिय बिमोह प्रसंगा॥	४	*रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं॥*
	५	*सपनेहुँ नहिं अज्ञान प्रसंगा जे मति मंद बिषय बस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी॥*
निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥	६	*ते सठ हठ बस संसय करहीं। निज अज्ञान राम पर धरहीं॥*

जथा गगन घन पटल निहारी। *झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥*	७ *जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा।* *सो कह पच्छिम उएउ दिनेसा॥*

☞ दोनोंमें भेद यह है कि सतीजीका यह अनुमान है कि राम ब्रह्म नहीं हैं—*'सो कि देह धरि होइ नर——' 'जो नृप तनय त ब्रह्म किमि'* अतः उनको समझानेमें सूर्यका ढकना कहा और गरुड़ रामको ब्रह्म मानते हैं, उनको केवल *'राम बिकल कारन कवन'* यह संदेह है, अतः यहाँ केवल दिशाभ्रम कहकर समझाया।

चितव जो लोचन अंगुलि लाये। *प्रगट जुगल ससि तेहि के भाये॥*	८ *नयन दोष जा कहँ जब होई।* *पीत बरन ससि कहँ कह सोई॥*

☞ शिवजीने चन्द्रमाको देखना कहा; क्योंकि पार्वतीजी दो ब्रह्म निश्चय करती थीं—*'राम सो अवध नृपतिसुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई॥'*

उमा राम बिषइक अस मोहा। *नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥*	९ *हरि बिषइक अस मोह बिहंगा* *(सपनेहु नहिं अज्ञान प्रसंगा)*
अज्ञ अकोबिद अंध अभागी।	१० *माया बस मति मंद अभागी*
काई बिषय मुकुर मन लागी॥	११ *हृदय जमनिका बहु बिधि लागी॥*
लंपट कपटी कुटिल बिसेषी।——	१२ *काम क्रोध मद लोभरत गृहासक्त——*
मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। *रामरूप देखहिं किमि दीना॥*	*ते किमि जानहिं रघुपतिहिं* १३ *मूढ़ परे तम कूप॥*

नोट—*'ते सठ हठ बस——'* इति। भाव कि यदि उन्हें कोई समझाना भी चाहे तो वे उसे समझना नहीं चाहते। अपनेको सबसे बड़ा बुद्धिमान् समझते हैं। इसीसे वे अनेक कुतर्क करते हैं; किसीकी सुनते ही नहीं।

मोहप्रसंगकी आवृत्तियाँ

नोट—१ यहाँ मोह-प्रसङ्गमें मोहनिवृत्तिके लिये छः दृष्टान्त दिये हैं। (१) *'रबि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं?'* (२) *'जथा अनेक बेष धरि नृत्य करै नट कोइ।——आपुन होइ न सोइ।'* (३) नयनदोषसे चन्द्रमा पीतवर्ण दिखायी देता है। (४) दिशिभ्रमसे सूर्यके उदयस्थानमें भ्रम। (५) नौकारूढ़ मोहवश अपनेको अचल और दूसरोंको चल देखता है। और (६) बालक खेलमें घूमते हैं तब उनको भ्रम।

२—इस प्रसङ्गमें दो बातें मुख्य कही हैं और उन्हींके दो तरहके दृष्टान्त दिये हैं। एक तो यह कि प्रभुमें मोहका कारण नहीं है—*'इहाँ मोह कर कारन नाहीं'* यह कहकर इसके दो दृष्टान्त दिये—एक तो रवि और तमका, दूसरा नट और नटवेषका। पहले दृष्टान्तसे दिखाया कि श्रीरामजी तो मोहके नाशक हैं वह पास जा ही नहीं सकता। तब फिर स्त्री-विरह-विलापादि मोहित पुरुषोंके चरित कैसे करते हैं? इसका समाधान करते हैं कि नरवेष धारण किया, अतः नरका पूरा स्वाँग निबाहते हैं। मनुष्यमें काम-क्रोधादि होते ही हैं, अतः काम-क्रोधादि दिखाये। नरनाट्य करनेसे वे प्राकृत नर नहीं हो जाते। (ख) दूसरी बात यह कि 'यदि कहो कि उनमें मोह नहीं तो लोग उन्हें मोहवश क्यों कहते हैं? तो उसके समाधानमें कहते हैं कि 'प्रभुपर मोहका आरोपण वही करते हैं जो आसुरी बुद्धिके हैं और जो स्वयं मोहमें पड़े हैं। जो मोह वे प्रभुमें देखते हैं वह वस्तुतः प्रभुमें नहीं है, वह तो स्वयं उन्हींमें है। इसपर चार दृष्टान्त 'नयनदोषादि' के दिये।

३—प्रसङ्गकी दोनों बातोंका तथा प्रसङ्गका उपक्रम और उपसंहार—

इहाँ मोह कर कारन नाहीं	१ *'असि रघुपतिलीला उरगारी——।'*
,,	२ *सपनेहु नहिं अज्ञान प्रसंगा*
प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी	३ *हरि बिषइक अस मोह बिहंगा*

४—पहलेवाले उपक्रमोपसंहारके बीचमें लीलाका वास्तविक तत्त्व कहा—*'असि रघुपति लीला।'* दूसरेसे प्रभु-विषयक मोह कैसा है यह बताया। इसीसे दो जगह दो प्रकारके उपसंहारके वचन हैं।

५—लीलाका सिद्धान्त दिया तब *'रघुपति लीला'* पद किया; क्योंकि लीला रघुनाथरूपसे करते हैं और जब यह सिद्धान्त किया कि मोह उनको नहीं वरन् कहनेवालेको ही है तब *'हरि'* शब्द दिया।

६—श्रीरघुनाथजी भगवान् हैं अर्थात् षडैश्वर्ययुक्त हैं—*'भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।'* अत: यह सिद्ध करनेके लिये छ: ही दृष्टान्त दिये गये।

७—(क) *'माया बस मतिमंद अभागी'* से *'मुनिमन भ्रम होइ'* तक अभी ऊपरका ही प्रसङ्ग चल रहा है। यहाँ *'तुम्ह निज मोह कहा खगसाईं'* का उपसंहार कर रहे हैं (ख)—जैसे ऊपर २, ४, ५ में दो-दो बातें दिखायीं वैसे ही यहाँ रघुनाथजीके जाननेके विषयमें दो बातें कहते हैं—एक तो जान ही नहीं सकते, दूसरे जानते हुए भी भ्रममें पड़ जाते हैं। जो काम-क्रोध-मद-लोभ-रत हैं, गृहासक्त हैं, तमकूपमें पड़े हैं वे न जानते हैं न जान सकते हैं। और जो मननशील हैं, उपर्युक्त दोषोंसे रहित हैं, वे जानते तो जरूर हैं, पर चरितकी अगम्यता ही ऐसी है कि वे भी गोता खा जाते हैं।

८—प्रसङ्गकी समाप्ति *'ते किमि जानहिं'* पर नर किया क्योंकि गरुड़जीमें कामादि दोष नहीं हैं, वे रघुनाथजीको जानते हैं—*'चिदानंद संदोह राम।'* (६८) *'भव बंधन ते छूटहि नर जपि जाकर नाम। ...सोइ राम।'* (५८) समाप्ति *'सुनि मुनि मन भ्रम होइ'* पर की। क्योंकि इन्हें केवल चरितमें भ्रम हो गया है, रामजीमें नहीं, यथा—*'राम बिकल कारन कवन।'* (६८) इत्यादि। अर्थात् भ्रम केवल यह है कि परब्रह्म होकर वे नागपाशमें कैसे बँधे और व्याकुल क्यों देख पड़े।

९—तुम्हें मोह हुआ *'सो नहिं कछु आचरज गोसाईं'* यह कहकर आश्चर्य न होनेका कारण *'सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिमन भ्रम होइ'* यहाँतक कहा। उपक्रममें *'गोसाईं'* सम्बोधन करके जनाया कि आपकी इन्द्रियाँ आपके वश हैं, इसीसे अन्तमें भी जिनकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, उन्हींको कहा, यथा—*'जिति पवन मन गो निरस कर मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं'* (कि०)।—विशेष दोहा ७३ में देखिये।

१०—यहाँतक तीन प्रकारके जीवों और ईश्वरोंका मोह और उनके प्रकार कहे। *'भव बिरंचि'* ईश्वर हैं, नारद, सनकादिक मुक्त जीव हैं, यथा—*'जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान'* *'मुनिमन भ्रम होइ'* से मुमुक्षु जीव भी सूचित कर दिये और *'काम क्रोध मदलोभ रत'* 'विषयवश' इत्यादि विषयी जीव हैं।

दो०—काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुखरूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम कूप॥
निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ*।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥७३॥

अर्थ—जो काम, क्रोध, मद और लोभमें अनुरक्त, घर-गृहस्थीमें आसक्त (लिप्त) और दु:खके रूप (वा, दु:खरूप गृहकार्य नाना जंजालमें पड़े हुए) हैं वे श्रीरघुनाथजीको कैसे जानें? वे मूर्ख तो अन्धकाररूपी कुएँमें पड़े हैं। निर्गुण रूप अत्यन्त सुगम है। सगुण रूपको कोई जानता ही नहीं! सुगम और अगम अनेक चरित्रोंको सुनकर मुनियोंके मनमें भ्रम हो जाता है॥ ७३॥

नोट—१ *'काम क्रोध...'* इति। कामी, क्रोधी, लोभी और मदान्ध लोग श्रीरामजीको नहीं जान सकते। 'जैसे रावण और देवर्षि नारद मद और कामवश, परशुरामजी मद और क्रोधवश, सुग्रीव राज्यलोभवश भगवान्‌को न जान सके। पर गृहासक्त तो इन सबोंके वशमें रहता है। कामनाओंसे ये सभी दोष उसमें आ जाते हैं, अत: वह कब जान सकता है।

* 'सगुन न जानहि कोइ—

कामादि परब्रह्मस्वरूपके बोधके बाधक हैं इसीसे श्रीविभीषणजीने रावणसे प्रथम इनका त्याग करनेको कहा। तब भजन करनेको कहा। यथा—'*काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ। सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत॥*' (५। ३८) कामी होनेसे कथाका न सुनना, क्रोधी होनेसे धर्मरहित होना, मदसे शीलादिरहित और लोभसे वैराग्यरहित जनाया। यथा—'*कामिहि हरि कथा*' '*करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी*' '*अति लोभी सन बिरति बखानी।*'

२—'*गृहासक्त दुखरूप*' इति। (क) '*काम-क्रोध-मद-लोभ-रत*' कहकर '*गृहासक्त*' कहने तथा कामादि चारका ही नाम यहाँ देनेका भाव यह है कि ये चार नरकके मार्ग कहे गये हैं, यथा—'*काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ*……।' (सुं०। ३८) इनमें रत होनेवाला नरकगामी हुआ। और 'गृहासक्त' भी मरनेपर नरकमें प्रवेश करता है जैसा आगे भागवतके उद्धरणोंसे स्पष्ट है।

(ख) '*गृहासक्त दुखरूप*' का बड़ा सुन्दर वर्णन श्रीमद्भागवत (३। ३०। ६—१८) में है—मूर्ख जीव मायामोहित होकर स्त्री, कन्या, पुत्र, गेह, देह, पशु, बन्धु और धनादिको अपना मानकर उनमें अत्यन्त आसक्त रहता है और उक्त विषयोंके पानेसे अपनेको कृतार्थ वा भाग्यशाली मानता है। कुटुम्बकी भरण-पोषण चिन्तारूप अग्निमें सदा जला करता है। विशेषकर यह मूढ़ प्रायः कुटुम्बके लिये ही दुष्टाचरण करता है। कुलटा स्त्रियोंकी माया इत्यादिमें और छोटे लड़कोंके तोतले वचनोंमें इसका मन और इन्द्रियाँ ऐसी आसक्त हो जाती हैं कि वह ईश्वरको भूल जाता है। कपटधर्मयुक्त, दुःखदायी गृहके धर्मोंमें लिप्त रहकर यह गृही दुःख दूर करनेकी चेष्टा किया करता है और इसीमें अपनेको सुखी मानता है। एक जीविका नष्ट होनेपर दूसरेकी चेष्टा करता है। इस प्रकार लोभवश होकर कुटुम्बके भरण-पोषणमें रत रहता है तथा आसक्त होनेपर पराये धनकी चाह करता है।……मृत-शय्यापार पड़ा हुआ कुटुम्बको चारों ओरसे रोते हुए देख वह व्यथाको प्राप्त होकर प्राण त्याग करता है। (१८) कुटुम्ब और शरीर दोनोंको यहीं छोड़कर वह कर्म-भोगके लिये नरकमें प्रवेश करता है॥ ३१॥ यथा—'**आत्मजायासुतागारपशुद्रविणबन्धुषु। निरूढमूलहृदय आत्मानं बहु मन्यते॥ सन्दह्यमानसर्वाङ्ग एषामुद्वहनाधिना। करोत्यविरतं मूढो दुरितानि दुराशयः॥ आक्षिप्तात्मेन्द्रियः स्त्रीणामसतीनां च मायया। रहोरचितयालापैः शिशूनां कलभाषिणाम्॥ गृहेषु कूटधर्मेषु दुःखतन्त्रेष्वतन्द्रितः। कुर्वन्दुःखप्रतीकारं सुखवन्मन्यते गृही॥ ——वार्तायां लुप्यमानायामारब्धायां पुनः पुनः। लोभाभिभूतो निःसत्त्वः परार्थे कुरुते स्पृहाम्॥ ६—११॥**' इत्यादि। यह भगवान् कपिलदेवने देहासक्त पुरुषोंकी गतिका वर्णन श्रीदेवहूतिजीसे किया।

भगवान् कृष्णने श्रीउद्धवजीसे वर्णाश्रमधर्मोंका वर्णन करते हुए प्रथम यह बताकर कि 'गृहस्थको कुटुम्बमें आसक्त न होकर पुत्र, कलत्र आदिका समागम (धर्मशाला या प्याऊ आदिपर इकट्ठे हुए) बटोहियोंके समान समझना चाहिये, जैसे निद्राके टूटते ही स्वप्न चला जाता है, वैसे ही देह न रहनेपर ये सब नाते भी नहीं रह जाते। फिर कहा है कि ऐसा विचारकर अनासक्ति भावसे अहं—ममको छोड़कर अतिथिके समान सबके बीचमें रहनेवाला गृहस्थ बन्धनमें नहीं पड़ता।' (यथा—'**पुत्रदाराप्तबन्धूनां संगमः पान्थसङ्गमः। अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा॥**' (भा० ११। १७। ५३) '**इत्थं परिमृशन्मुक्तो गृहेष्वतिथिवद्वसन्। न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहङ्कृतः।**' (५४) इत्यादि) फिर गृहासक्तोंकी गति बताते हुए कि वह अहंता-ममताके बन्धनमें पड़ता है बताया कि गृहासक्त सोचता रहता है कि '**अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजाऽऽत्मजाः। अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः॥**' (५७) हा! हा! मेरे माता-पिता बूढ़े हो गये हैं, पत्नीके बाल-बच्चे अभी छोटे हैं, मेरे न रहनेसे ये दीन, अनाथ और दुखी हो जायँगे; ये कैसे जीवित रह सकेंगे। इस तरह वासनाओंसे विक्षिप्त चित्त वह पुरुष विषयभोगोंसे कभी तृप्त नहीं होता। मरनेपर घोर तमोमय नरकोंमें पड़ता है।

'दुखरूप'—घर गृहस्थीको दुःखरूप कहा है। यथा—'**विमोहितोऽयं जन ईश मायया त्वदीयया त्वां न भजत्यनर्थदृक्। सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते गृहेषु योषित् पुरुषश्च वञ्चितः॥**'(भा०। १०। ५१। ४६) अर्थात् (श्रीमुचुकुन्दजी कहते हैं कि) आपकी मायासे मोहित होकर मनुष्य अनर्थकी ओर दृष्टि लगाकर सुखकी आशामें सम्पूर्ण दुःखोंके मूलस्रोत जहाँसे सारे दुःख उत्पन्न होते हैं, ऐसे घरमें आसक्त हो जाता है।

३ (क) *'ते किमि जानहिं रघुपतिहि'* इति। भा० ३। ३२ में भगवान् कपिलदेवजीके **'रजसा कुण्ठमनसः कामात्मानोऽजितेन्द्रियाः। पितृन्यजन्त्यनुदिनं गृहेष्वभिरताशयाः॥'**(१७) का भी प्रायः यही भाव है। वे कहते हैं कि रजोगुणसे विक्षिप्त चित्त और कामनाओंके कारण अजितेन्द्रिय होनेसे गृहस्थीमें आसक्त होकर नित्यप्रति पितृगणका यजन करनेवाले अर्थ, धर्म और काममें ही तत्पर रहनेके कारण भगवान् और उनकी कथाओंसे विमुख रहते हैं—**'त्रैवर्गिकास्ते पुरुषा विमुखा हरिमेधसः—।'** (१८)

पं० रामकुमारजी इसका भाव यह लिखते हैं कि एक दोषसे ही जीव श्रीरामजीको नहीं जान सकता और संसारी जीव तो अनेक दोषोंसे भरे हैं और उसपर भी मोहरूपी अन्धकूपमें पड़े हैं तब तो उनका जानना असम्भव ही है।

४ *'मूढ़ परे तम कूप'* इति। (क) गृहासक्त अपनेको बड़ा भाग्यशाली समझता है इसीसे उसे मूढ़ कहा। यथा—**'—आत्मानं बहु मन्यते।—करोत्यविरतं मूढो दुरितानि दुराशयः।'**(भा० ३। ३०। ६-७) (उपर्युक्त)। पुत्र और धनकी कामनाओंसे आतुर स्त्रीलम्पट और घरमें आसक्त होनेसे भगवान् कृष्णने भी उसे 'मूढ़' कहा है। यथा— **'यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः। स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते॥'** (भा० ११। १७। ५६) **'—एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम्।'** (५८) (ख) *'परे तम कूप'* इति। पूर्वार्धमें *'काम क्रोध—दुखरूप'* कहा। उसीको *'तम कूप'* भी कहा। गृहासक्तको परमार्थ सूझता ही नहीं, जैसे अन्धेरे कुएँमें पड़े हुएको बाहरका कुछ नहीं सूझता। मुचुकुन्दजीने भी घरको अन्धकूप कहा है। यथा— **'पादारविन्दं न भजत्यसन्मतिर्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः।'** (भा० १०। ५१। ४८) अर्थात् जो आपके चरणारविन्दोंका भजन न करके विषयासक्त होकर गृहरूपी अन्धकूपमें पड़ा रहता है, उसे पशुसमान समझना चाहिये। यह भी 'मूढ़' का भाव ले सकते हैं।

नोट—*'निर्गुन रूप सुलभ—कोइ'* इति। श्रीमद्भागवतमें श्रीब्रह्माजीने भी ऐसा ही कहा है—**'तथापि भूमन्महिमाऽगुणस्य ते विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः। अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा॥'** (१०। १४। ६) **'गुणात्मनस्तेऽपि गुणान्विमातुं हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य। कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पैर्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः॥'** (७) (अर्थात्) हे अच्युत! हे व्यापक! यद्यपि आपके निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपोंकी महिमाका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है तथापि जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है वे स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूपसे आपके निर्गुण स्वरूपकी महिमा जान भी सकते हैं। उसके जाननेका और कोई उपाय नहीं है, क्योंकि आपका निर्गुण स्वरूप निर्विकार, अनुभवस्वरूप और वृत्तियोंका अविषय है। परंतु भगवन्! जिन समर्थ पुरुषोंने अनेक जन्मोंतक परिश्रम करके पृथ्वीके परमाणु, आकाशके हिमकण (ओसकी बूँदें) तथा आकाशमें स्थित नक्षत्रों, तारों तथा उनकी किरणोंके परमाणुओंको गिन डाला है, उनमें भी भला ऐसा कौन है जो आपके सगुण स्वरूपके अनन्त गुणोंको गिन सके?

पं० रा० व० श०—*'जान नहिं कोइ।'* जो कहता है कि हमने ब्रह्मको जान लिया वस्तुतः उसने कुछ नहीं जाना और जो कहता है कि वह अतर्क है, मन और इन्द्रियादिसे परे है, हम उसे नहीं जान सकते बुद्धिभर समझते हैं, वस्तुतः वही जानता है। ब्रह्म-अवस्थिति दो प्रकारकी है—**'सगुणा निर्गुणा चैव द्विधा ब्रह्मव्यवस्थितिः'**, *'अगुन-सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।'* निर्गुण निरवधि इत्यादि है। इससे उसमें भ्रमका डर नहीं है। अतएव उसको सुलभ कहा। सगुणमें कोई चरित्र तो बहुत सुगम हैं (जैसे कबन्ध, विराध, खरदूषणादिक-वध इत्यादि जिनमें ऐश्वर्य देख पड़ता है) और कोई बहुत अगम हैं (जैसे विलापमें वृक्षादिसे पूछना, नागपाश इत्यादि), यह कहकर अगमता दिखाते हैं कि *'सुनि मुनि मन भ्रम होइ'* अर्थात् दिनरात मनन करनेवाले भी मोहमें पड़ जाते हैं तब और मोहमें पड़ जायँ तो आश्चर्य क्या?

गौड़जी—*'निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।'* सत्त्व, रज, तमादि गुणोंसे परे, आदि-अन्त-रहित, निराकार, अखण्ड आदि निर्गुण ब्रह्मके विशेषण सभी नकारात्मक हैं। नामका अभाव, रूपका अभाव और गुणका अभाव, इन तीन अभावोंसे निर्गुणरूप कल्पनामें नहीं आ सकता। यह जगत् मिथ्या है, मायाकी

कल्पना है, केवल ब्रह्मके अधिष्ठानसे सत्य-सा लगता है। निर्गुणब्रह्मका यह ज्ञान मनको और कल्पनाशक्तिको छुट्टी दे देता है। इन्द्रियोंमें वाक्-इन्द्रियसे और बुद्धिसे सहज ग्राह्य दीखता है। जाननेमें यह बहुत सुलभ है। सगुणब्रह्मके जाननेमें बड़ी कठिनाई यह है कि उसमें समस्त भावोंकी पूर्णताका अनुमान करना पड़ता है। जो अव्यक्त है उसकी अव्यक्तता और अगोचरताहीपर संतोष हो जाता है परन्तु जो व्यक्त है उसके गुण नकारात्मक नहीं हैं, इसलिये उसके व्यक्तरूपकी आदर्शकल्पना करनी पड़ती है। उसे किसीने देख पाया नहीं है इसलिये प्रत्यक्ष अनुभवसे तो कोई कुछ कह ही नहीं सकता, जिसने देखा है वह वर्णन नहीं कर सकता, जिसने जाना है वह पहुँचसे बाहर हो गया है—*'आँरा कि ख़बर शुद ख़बरश बाज न आमद', 'सो जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हइँ होइ जाई॥', 'स्याम गौर किमि कहउँ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥'* पूर्णताको व्यक्त करनेके लिये वह शब्द कहाँ है और देखनेके लिये वह इन्द्रिय कहाँ जिससे पूर्णरूपका दर्शन हो सके। वह पूर्ण-विकसित इन्द्रिय कहाँ है जिससे कि उस रूपका श्रवण, स्पर्श, घ्राण, रसन आदि हो सके। इन्द्रियाँ परिच्छिन्न हैं। इन इन्द्रियोंसे सगुणरूपका अनुभव असम्भव है। सगुणरूपकी विराड्-विभूतिके क्षणिक दर्शनमात्रके लिये अपने परमभक्त और सखा अर्जुनको **'दिव्यं ददामि ते चक्षुः'** कहते हैं। तुमको दिव्य आँख देता हूँ तू मेरे ऐश्वर्य-योगको देख। कमलपर बैठे हुए चतुर्मुख ब्रह्मा अपने सिरजनहारके चिन्तनमें हैरान हैं और कमलनालसे सैकड़ों वर्ष उतरकर खोजकर परेशान होते हैं तब कहीं भगवत्कृपासे नारायणरूपका दर्शन होता है। निराकारके दर्शनके लिये कौन मूर्ख परेशान होगा? उसकी निराकारता तो सहज सुलभ है। परंतु साकारता ही तो गजब ढा देती है। कैसी है, कहाँ है, किस तरहकी है? खोजनेवालेको हैरान कर देती है। बारंबार भगवान् कहते हैं कि यह सारा जगत् मुझमें है और मेरा अत्यन्त अल्प अंश है, परंतु यह कैसी अद्भुत बात है कि उन्हींकी गोदमें होकर हम उनके शरीरका कोई भी अंश देख नहीं सकते। उनसे इतने पास हैं कि देश और कालका कोई अन्तर नहीं है, साथ ही दूर इतने हैं कि अत्यन्त जवीयस् मन पहुँच नहीं सकता। सगुणरूप ऐसा दुर्लभ और अगम है। यही सगुणरूप जगत्की सृष्टिके लिये अनिवार्य है और सृष्टि भक्तप्रेमवश होती है। इसीलिये कहा है—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

इसी अज्ञेय सगुणरूपको अपने भक्तोंको सुलभ बनानेके अर्थ सगुणब्रह्मके अवतार होते हैं। और भगवान् अपनी मायासे तरह-तरहके रूप धारण करते हैं। इस तरह दुर्लभ सगुणरूपको सुलभ कर देते हैं। अवतारके इस रहस्यको जो तत्त्वतः नहीं समझते वे भ्रान्तिमें पड़े रहते हैं। भगवत्की माया बड़ी प्रबल है, बड़े-बड़े मननशील योगी और मुनि भी भगवान्की माधुर्यलीलासे मोहित हो जाया करते हैं फिर साधारण जनोंकी बात ही क्या है? यह सगुणरूपकी दुर्लभता अपनेको प्राकृत नरलीलामें भी व्यक्त किये बिना नहीं रहती। इसीलिये कहा कि सगुणरूपको कोई नहीं जानता, उसको जो जानता है वह शरीरको त्यागकर फिर जन्म नहीं लेता—**'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥'** (गीता ४-९) हे अर्जुन! मेरे दिव्य अर्थात् अलौकिक जन्म और कर्मको जो पुरुष तत्त्वरूपसे जानता है वह शरीर त्यागकर फिर जन्म नहीं लेता किंतु मुझमें मिल जाता है।—*'सो जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइँ होइ जाई॥'* सगुणब्रह्मको तत्त्वरूपसे जानना स्वयं तन्मय हो जाना है। और यह जितना दुर्लभ है उतना ही सगुणरूपका ज्ञान दुर्लभ है। भक्तोंके लिये सगुणरूपको सुलभ करनेके साधन ही अवतार हैं। क्योंकि जैसे सगुणरूपका ज्ञान दुर्लभ है वैसे ही उसकी उपासना सहज सुलभ है। और जैसे निर्गुणरूप सुलभ है वैसे ही निर्गुणकी उपासना बहुत कठिन है। उपासनाकी दृष्टिसे सुगमता और दुर्गमताका वर्णन गीताजीके अ० १२ में हुआ है।

प० प० प्र०—गीतामें कहा है कि **'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥'** मानसमें भी *'अति दुर्लभ कैवल्य परम पद' 'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका।'* आदिमें निर्गुण रूपका दुर्लभ होना कहा गया है। तब यहाँ *'निर्गुन रूप सुलभ अति'* कैसे कहा? (समाधान)—यहाँ मोह, विमोह, महामोह आदिमें फँसनेका प्रकरण चल रहा है। अतः निर्गुणरूपप्राप्तिके साधनमें लीला, रूप, गुण

आदिका सम्बन्ध न होनेसे जैसा श्रीसतीजी, गरुड़जी आदिको मोह हुआ वैसा मोह होनेका भय नहीं है। इतना ही *'सुलभ अति'* का भाव है।

पां०—*'सुगम अगम'* इति।—निर्गुण इससे सुगम है कि एकरस रहता है और सगुणके नाना चरित सुगम और अगम हैं, जैसे सेतुबन्धन और जानकीविरह इत्यादि।

करु०—निर्गुणरूपको सुलभ कहा क्योंकि वेदादि कहते हैं कि वह सर्वत्र एकरस परिपूर्ण व्याप्त है। सब कहते हैं कि वह अनुभवगम्य है। अत: वेदशास्त्रों और सन्तोंसे उसका जानना सुगम है। सगुण दुर्लभ है क्योंकि कोई कुछ कहता है और कोई कुछ। रघुनाथजी तो सगुण-निर्गुण दोनोंसे परे हैं, यथा—**'सगुणं निर्गुणं चैव परमात्मा तथैव च। एते चांशा हि रामस्य पूर्वे चान्ते च मध्यत:॥'** इति (श्रीसदाशिवसंहिता)।

वै०—निर्गुणमें आकार, रंग, रूप, चरित आदि कुछ हैं ही नहीं कि जिनके जाननेमें दुर्घटता हो, अनादि, अनन्त, अखण्डानन्द, एकरस, व्यापक आदि केवल नाममात्र कहना है, इसलिये सुलभ है। सगुणमें अनेक भेद हैं, इसको कोई नहीं जानता, क्योंकि परात्पर साकेतविहारीके पाँच भाँतिके रूप प्रकट हैं पर वैकुण्ठवासी, चतुर्व्यूह—अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण और वासुदेव, विभु अवतारादि, अर्चाविग्रह—ये चारों रूप सगुण हैं और पाँचवाँ अन्तर्यामी जो सबमें व्यापक है वही निर्गुण कहलाता है। इनमें भी अनेक भेद हैं। अर्थपञ्चकमें भेद बतलाये गये हैं।……इत्यादि भेद सब नहीं जानते। इनकी जो लीला है उसमें भी सुगम और अगम नाना प्रकारके चरित हैं। सुगम वह हैं कि जिनके देखने-सुननेसे ही सबका भ्रम दूर होकर यथार्थ बोध हो जाय। जैसे कि मत्स्य, कूर्म, नृसिंहादि अवतारोंमें ऐश्वर्य प्रकट किये रहनेसे सबने जान लिया कि ये भगवान् ही हैं, इनमें माधुर्यलीला कुछ भी नहीं, केवल ऐश्वर्य है, अत: यह सुगम चरित है। पुन:, जो माधुर्यमय लीलाके चरित हैं वे समझनेमें अगम हैं, जैसे ब्रह्मा और इन्द्रको श्रीकृष्णचरित देख मोह हुआ और रघुनाथजी तो सदा ऐश्वर्य छिपाये ही रहे, माधुर्य ही प्रकट रखा—रामायणभर इसका उदाहरण है।……अत: इनके माधुर्यमें अनेक भाँतिके अगम चरित हैं, जिन्हें देख मुनि भूल जाते हैं तब औरोंको क्या कहें?—विश्वामित्र-जनक, परशुराम, सती, गरुड़ इत्यादिका मोह प्रकट ही है। स्कन्दपुराण-निर्वाणखण्डमें लिखा है कि रावणवधपर देवताओंको मोह हुआ कि हमारी सहायतासे रावणवध हुआ, राजकुमार भला उसे क्या मार सकते। उनका मोह मिटानेके लिये रामजीने ऐश्वर्यरूप प्रकट किया, जिसे देख सब अत्यन्त भयभीत हो गये। विष्णुभगवान्‌के स्तुति करनेपर वह रूप छिपाया गया।

ग्रा० प्र०—*'निर्गुनरूप सगुनै में मति सुलभ पै कोइ न जानै। निर्गुन सगुन न जाना तिन बकबक ठाना।' 'निर्गुन नाम गुनै को भाई गुनमें गुन न रहै।'*

नोट—सगुणरूपके चरित कुछ सुगम भी होते हैं और कुछ अगम भी। जिसमें तर्क चले वह सुगम है, जिसमें न चले वही अगम है। जहाँ ईश्वरकी स्वातन्त्र्यशक्ति काम करती है, वहाँ किसीका तर्क काम नहीं करता। विशेष (लं० ७३। १-२) देखिये।

नोट—*'सुनि मुनि मन भ्रम होइ।'* सतीको, गरुड़को, जयन्तको और ब्रह्मादिको भी मोह हो गया तब औरकी क्या बात है? नागपाशके प्रसङ्गमें शिवजीने भी इसी प्रकार कहा है, यथा—*'चरित राम के सगुन भवानी। तरकि न जाहिं बुद्धि बल बानी॥ अस बिचारि जे तज्ञ बिरागी। रामहिं भजहिं तर्क सब त्यागी॥'* (लं० ७३। १-२) इस प्रकार *'सगुन जान नहिं कोइ'* का भाव यह भी हुआ कि सगुणचरितका बुद्धि, मन, वाणी इत्यादिके द्वारा समझ लेना दुर्गम है। पुन: *'सुनि मुनि मन भ्रम होइ'* का भाव कि मननशील मुनियोंको भ्रम हो जाता है तब इतर प्राणी किस गणनामें हैं? अत: तर्क छोड़कर रामभजन करना चाहिये; वे ही चाहें तो जना दें—*'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।'* *'सुनि'* का भाव कि देखनेकी कौन कहे सुननेमात्रसे भ्रम हो जाता है।

नोट—यहाँ दो दोहोंमें दो बातें कहीं। एक तो जो श्रीरघुनाथजीको जान ही नहीं सकते वे कौन हैं और उनके विषयमें कहा कि वे शठ हैं और हठवश संशय करते हैं—यह शठताका लक्षण है। दूसरे जो रघुनाथजीको जानते हैं उनके विषयमें कहा कि इनको भ्रममात्र हो जाता है, वे हठवश संशय नहीं

करते, केवल भ्रमनिवारणार्थ अवसर पाकर प्रश्न करते हैं। जैसे भरद्वाज मुनिने याज्ञवल्क्यजीसे किया।—*'जैसे मिटै मोर भ्रम भारी। कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी॥'* (१। ४७। १)

नोट—जो प्रसङ्ग *'तुम्ह निज मोह कही खग साईं। सो नहिं कछु आचरजु गोसाईं॥'*—(७०। ५) पर उठाया था वह यहाँ समाप्त हुआ। उपक्रममें अन्तमें *'जे मुनिनायक'* पद है और उपसंहारमें *'सुनि मुनि मन।'*

मा० हं०—द्वैत और अद्वैतवादियोंकी एकवाक्यता करनेका गोसाईंजीने एक बड़ा ही उपक्रम किया है। **'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये'** यह अथर्वणीय श्रुति है। इसके अनुसार गोसाईंजी कहते हैं कि *'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।'* इससे स्पष्ट ही हुआ कि ब्रह्मके सगुण और निर्गुण ये दो अङ्ग समझना चाहिये और इसमेंसे किसी एक अङ्गका ज्ञान सम्पूर्ण ब्रह्मज्ञान नहीं कहा जा सकता।

बादमें प्रथम द्वैती मतको उनका यह निवेदन है कि प्राण और देह, सूर्य और प्रकाश, चन्द्र और कान्ति इत्यादि सम्बन्धोंके समान निर्गुण और सगुणका सम्बन्ध है। निर्गुणके अतिरिक्त सगुणकी अवस्थिति नहीं—*'अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमबस सगुन सो होई॥'*

अर्थात् ब्रह्मका प्रधान अङ्ग निर्गुण है। अतएव द्वैतको अद्वैतके बिना गत्यन्तर नहीं।

पश्चात् अद्वैतमतको उनका यह निवेदन है कि *'निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।'* इससे यही निर्णीत हुआ कि सगुण स्वरूपका जानना ही ब्रह्मज्ञानका फल है और केवल निर्गुणज्ञानसे ही पूर्णता नहीं हो सकती। **'अहं ब्रह्म'** स्थिति साकल्य ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्मनिष्ठता नहीं है। ब्रह्मनिष्ठताकी परिपूर्णता **'वासुदेवः सर्वमिति'** (गीता) होनेमें ही है। तात्पर्य कि द्वैतको अद्वैतके अतिरिक्त स्थिति नहीं और अद्वैतको द्वैतके अतिरिक्त पक्वता नहीं। कर्म, ज्ञान और भक्तिका समुच्चयात्मक योग ही पराभक्ति, ज्ञानोत्तरा भक्ति इत्यादि है। अद्वैतसिद्धान्तके पुरस्कर्त्ता श्रीआदिशङ्कराचार्यजीने भी अन्तमें इसी योगका अवलम्बन इस प्रकार किया है—

'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥' उन्हींके अनुयायी अद्वैतसिद्धिकर्त्ता श्रीमधुसूदन सरस्वती कह गये हैं—

'ध्यानाभ्याससमाहितेन मनसा यन्निर्गुणं निष्क्रियं ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं कालिन्दीपुलिनेषु यत्कमपि तन्नीलं महो धावति॥'

इसी मार्गका अवलम्बन गोसाईंजीने भी इस प्रकार किया है—*'जे जानहिं······।'*

उक्त प्रकारसे विचारपरिवर्तन भाषित होनेका सम्भव है। परंतु वह केवल भास है। वह विचारपरिवर्तन नहीं है किंतु साधन परिपाक है। सगुण (अर्थात् कर्म और उपासना) से निर्गुण (अर्थात् ज्ञान) और फिर निर्गुणसे सगुण यह साधन परिपाकका क्रम है। यही पूर्णावस्था है और यही ज्ञानोत्तरा भक्ति कहलायी जाती है। ज्ञानका परिपाक भक्तिमें होना यही उसका फल है। श्रीशंकरजीकी रामभक्ति इसी प्रकारकी है, और उसीको अद्वैतभक्ति कहना चाहिये। यह अतीव दुष्प्राप्य है जैसा कि गीताजीमें कहा है—**'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।'** स्वामीजीके *'निर्गुनरूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ'* कहनेका आशय भी यही होना चाहिये। भारतीय आध्यात्मिक वाङ्मयमें इसी भक्तिकी महती गायी हुई दिखाती है। स्वामीजी भी उसे इस प्रकार कहते हैं—

'जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥
अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल गुन खानी॥

सुनु खगेस रघुपति प्रभुताई। कहौं जथामति कथा सुहाई॥ १॥
जेहि बिधि मोह भएउ प्रभु मोही। सोउ सब कथा सुनावौं तोही॥ २॥
राम कृपा भाजन तुम्ह ताता। हरिगुन प्रीति मोहि सुखदाता॥ ३॥
ताते नहिं कछु तुम्हहिं दुरावौं। परम रहस्य मनोहर गावौं॥ ४॥

अर्थ—हे पक्षिराज! श्रीरघुनाथजीकी प्रभुता सुनिये। मैं बुद्धिके अनुसार सुहावनी कथा कहता हूँ॥ १॥ हे प्रभो! जिस प्रकार मुझे मोह हुआ वह सब कथा भी तुम्हें सुनाता हूँ॥ २॥ हे तात! आप श्रीरामजीके कृपापात्र हैं। भगवान्‌के गुणों (चरित) में आपका प्रेम है और मुझे सुख देनेवाले हैं॥ ३॥ इसीसे मैं आपसे कुछ भी नहीं छिपाता। अत्यन्त गुप्त और मनोहर चरित वर्णन करता हूँ॥ ४॥

नोट—१ 'प्रभुताई' और 'यथामति' की व्याख्या पूर्व कई बार हो चुकी है। पुनः, ***'यथामति'*** का भाव कि प्रभुता अपार है, अकथनीय है, मैं अपनी बुद्धिके अनुकूल कुछ कहता हूँ।

२ ***'जेहि बिधि मोह……'*** इति। ☞ यहाँतक ईश्वरोंका, सांसारिक विषयी प्राणियोंका तथा मुनियोंका मोह कहकर समझाया। अब अपना मोह कहकर समझाते हैं।

अपना उदाहरण प्रमाणस्वरूप देनेमें अपना गौरव जताना समझा जाता है, अतः यह दोष समझकर अपनी कथाका प्रमाण शिष्ट लोग नहीं देते। तब भुशुण्डिजी अपनी कथा कैसे कहते हैं? यह शंका हो सकती है। इसका समाधान कई प्रकारसे होता है—(क) अपने बड़प्पनकी बात कहना दोष है और यहाँ तो अपना मोहरूपी दोष कह रहे हैं। (ख) अपनी बात कहना है, इसे दोष समझकर वे प्रथम उसके कहनेका कारण बताते हैं कि उसमें मेरी बात तो थोड़ी है, बहानामात्र है, वस्तुतः प्रसङ्ग ***'रघुपति प्रभुताई'*** का ही है; उससे श्रीरामजीके परम मनोहर रहस्यका उद्घाटन हुआ है। (ग) अपनी बीती, अपनी देखी प्रत्यक्ष प्रमाण है, इसका श्रोतापर अधिक प्रभाव पड़ता है। अपने मोहके प्रसङ्गमें वह प्रभुता इन्होंने स्वयं देखी है।

३ **'सोउ'** का भाव कि प्रभुता कहूँगा और अपने मोहकी कथा भी कहूँगा। कुछ तुम्हींको मोह नहीं हुआ, मुझे भी हुआ था। विशेष भाव ऊपर आ गये हैं—।

४ ***'राम कृपा भाजन……ताते नहिं कछु तुम्हहिं दुरावौं'*** इति। इससे जनाया कि जो ***'राम कृपा भाजन'*** हो, 'हरिगुण प्रेमी' और अपनेको ***'सुखदाता'*** हो उससे रहस्यकी बात न छिपानी चाहिये। पूर्व दोहा ६९ में शिवजीने भी ऐसा ही कहा है—***'श्रोता सुमति सुसील सुचि कथारसिक हरिदास।'***

वहाँ हरिदास यहाँ ***'राम कृपा भाजन'***, वहाँ कथारसिक यहाँ ***'हरि गुन प्रीति'*** और वहाँ ***'सुमति सुसील सुचि'*** यहाँ ***'सुखदाता'***। दोनोंके मिलानसे जान पड़ता है कि ***'सुमति सुसील सुचि'*** होनेसे भुशुण्डिजीको सुखदाता हुए। अथवा ***'राम कृपा भाजन'*** होनेसे हरिगुणमें प्रीति है और हरिगुणप्रीति होनेसे सुखदाता हैं।—[रा० प्र०—***'मोहि सुख दाता'*** का भाव कि जो जिसका रसिक होता है उसका साथ होनेसे रसिकका उद्दीपन और परम मनोरञ्जन होता है।]

५ ***'परम रहस्य मनोहर'*** से जनाया कि यह अत्यन्त गोप्य चरित्र है, मनके विकारोंको हरण करनेवाला है। मैंने इसे अबतक किसीसे न कहा था।

(श्रीरामस्वभाव-वर्णन)

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥ ५॥
संसृतमूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥ ६॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीका सहज स्वभाव सुनिये। वे भक्त (के हृदय) में अभिमान कभी नहीं रहने देते॥ ५॥ (क्योंकि) अभिमान संसार-(अर्थात् बारंबार जन्म-मरण) की जड़ (मूलकारण) है, अनेक प्रकारके क्लेशों, दुःखों और समस्त शोकोंका देनेवाला है।

नोट—१ (क) ***'सुनहु'*** से जनाया कि एक बात कहते थे, उसे प्रथम न कहकर दूसरी कहते हैं! पहले कहा था कि ***'सुनु खगेस रघुपति प्रभुताई'*** पर उसी प्रसङ्गमें बीचमें प्रभुत्व न कहकर स्वभाव कहने लगे। अतः पुनः, ***'सुनहु'*** कहा। रा० प्र० का मत है कि सावधान करनेके लिये ***'सुनहु'*** कहा। (ख) ***'सहज सुभाऊ'***—अर्थात् देखनेसे, शास्त्रादिके अध्ययनसे अथवा अभ्याससे यह स्वभाव नहीं बना है, किंतु स्वतःसिद्ध स्वभाव है। जन्मसे जो स्वभाव होता है उसे सहज स्वभाव कहते हैं। शरीरके साथ

ही नित्यका स्वभाव है। (ग) *'राम कर सहज सुभाऊ'* का भाव कि यह स्वभाव श्रीरामजीका ही है, दूसरेका नहीं है। (रा० शं० श०) और लोग सेवा-उपकार आदिपर ही प्रायः ढरते हैं, पर श्रीरामजी बिना किसी सेवाके ही दीनजनपर कृपा करते हैं, यथा *'बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर रामसरिस कोउ नाहीं॥'* (वि० १६२) (रा० प्र०) भुशुण्डिजी श्रीरामजीके स्वभावके यथार्थ ज्ञाता हैं। यथा— *'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुण्डि संभु गिरिजाऊ॥'* (५। ४८। १)

२ *'जन अभिमान……'* इति। (क) भाव कि जो जन नहीं है उसके अभिमानकी इतनी चिन्ता नहीं करते। देखिये, रावणका अभिमान, बहुत दिन बनाये रखा। यथा *'तौ लौं न दाप दल्यो दसकन्धर जौं लौं बिभीषन लात न मार्यो।'* (क० ७। ३) (रा० शं० श०)। पुनः, भाव कि और स्वामियोंका यह स्वभाव नहीं है, यथा—*'कनककसिपु बिरंचि को जन करम मन अरु बात। सुतहि दुखवत बिधि न बरज्यो काल के घर जात॥ संभु सेवक जान जग बहु बार दिए दससीस। करत राम बिरोध सोउ सपनेहु न हटकेउ ईस॥……'* (वि० २१६) (ख) *'अभिमान न राखहिं'*—भाव कि अभिमान संसारका मूल है। अहंकार ही सृष्टिका प्रथम बीज (मूल कारण कहा गया है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं शूद्र, मैं ज्ञानी, मैं भक्त इत्यादि अनेक प्रकारके अहंकार हैं। इनके वश जन्म-मरण होता ही रहता है। (पं० रा० व० श०) सुन्दरकाण्डमें श्रीरामजीने विभीषणजीसे अपना स्वभाव इस प्रकार वर्णन किया है—*'जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥'* (४८। २) से *'अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसत धन जैसे॥……।'* (४८) तक। *'जन अभिमान न राखहिं काऊ'* यह स्वभाव उस पूर्वकथित स्वभावका अङ्ग है। भगवान् कहते हैं कि मेरा भक्त मुझे लोभीके धनसमान प्रिय है। अतः भुशुण्डिजी कहते हैं कि प्रभु उस धनका नाश नहीं देख सकते, उसकी सदा रक्षा करते हैं। अभिमान भक्तका नाशक है। अतएव वे उस अभिमानका ही नाश करके भक्तकी रक्षा करते हैं।

३ *'जन अभिमान न राखहिं काऊ'* इससे जनाया कि मुझे अभिमान हुआ था इसीसे मुझे मायाने घेरा और उसी प्रसङ्गमें मुझे प्रभुने कृपा करके प्रभुता दिखायी। और आपको भी अभिमान हुआ था, यथा—*'होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना'* अतः आपपर कृपा करके अभिमान दूर करनेको यह चरित किया और यहाँ भेजा, यथा—*'सो खोवइ चह कृपानिधाना।'* पुनः, भाव कि प्रभु भक्तोंके मनको सदा जुगवते रहते हैं, सब कामनाएँ पूर्ण करते हैं, पर अभिमान जरा भी हुआ तो कभी नहीं रहने देते। इसका कारण आगे कहते हैं—*'संसृतमूल सूलप्रद नाना……॥'* ☞ मिलान कीजिये नारद-मोह-प्रसङ्गसे, *'करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी॥ बेगि सो मैं डारिहौं उखारी। पन हमार सेवक हितकारी॥ मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई॥'* (१। १२९। ४—६)

४ *'सूलप्रद नाना।'* शूल रोग आठ प्रकारका कहा गया है, उसी प्रकार पीड़ा देनेवाले क्लेश भी अनेक प्रकारके हैं। कोई पञ्चक्लेश और कोई दस मानते हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, लोभ, मोह, मान, दृष्टि, विचिकित्सा, स्थिति, उद्धव्य, अह्रीक और अनुत्ताप—ये भी शूलके अन्तर्गत हैं। मानसकारके मतानुसार शूल अगणित प्रकारके हैं। इसीसे यहाँ *'नाना'* विशेषण दिया था, यथा—*'बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥'* (१२१। ३२) *'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥'* (१२१। २९) ५ *'सकल सोक'* का भाव कि शोक भी अगणित प्रकारके हैं। इष्टहानि, अनिष्टकी प्राप्ति, किसी पीड़ा अथवा दुखदायी घटनासे जो क्षोभ मनमें उत्पन्न होता है वह शोक कहलाता है। ६ *'संसृतमूल'* कहकर उसका फल कहा कि शूलप्रद है, यथा—*'भव खेद छेदन दक्ष हम कहँ रक्ष राम नमामहे।'* शूलसे शोक होता ही है, अतः शूलप्रद कहकर शोकदायक कहा। यहाँ 'द्वितीय निदर्शना अलङ्कार' है। पुनः, *'सकल सोकदायक अभिमाना'* का भाव कि अभिमान 'मोहमूल' है मोहमूल होनेसे समस्त शूलों और शोकोंका देनेवाला है, यथा—*'मोहमूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान।'* (५। २३) ☞ स्मरण रहे कि यहाँ गरुड़को मोहसे अभिमान हुआ। इससे अभिमानमें ये अवगुण दिखाये हैं। नारदको

मोहसे स्त्रीकी चाह अर्थात् काम व्याप्त हुआ था। अतः वहाँ स्त्रीमें सब दोष दिखाये थे, यथा—*'अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुखखानि।'*

नोट—यहाँ अभिमानको संसृतिमूल कहा और आगे अविद्याको संसृतिमूल कहा है। यथा *'भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा॥'* (१२९। ८) इस तरह जनाया कि अभिमान भी माया है। मायाका कार्य अहंकारहीसे आरम्भ होता है।

ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥ ७॥
जिमि सिसु तन ब्रन होइ गुसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥ ८॥

शब्दार्थ—**ब्रन**=(व्रण)=शरीरमें होनेवाला फोड़ा। **कठिन**=कठोर।

अर्थ—इसीसे (कि नहीं तो भक्त फिर भवमें पड़ जायगा और दुःख भोगेगा, अपने सहज स्वभावसे दयासागर उसे दूर करते हैं। सेवकपर उनका अत्यन्त भारी ममत्व है॥ ७॥ हे गुसाईं! जैसे बच्चेके शरीरमें फोड़ा होता है तो माता उसे कठोर हृदयवालेके समान चिरवाती है॥ ८॥

पं० रा० व० श०—*'ममता अति भूरी'* यह कारण है अभिमान दूर करनेका। यह हमारा है, हमारा होकर यह इतने भारी क्लेशमें पड़े? यह ममता है।

नोट—१ *'ताते करहिं कृपानिधि दूरी।'*—ममत्व और कृपालुताके कारण उसको क्लेशमें पड़ा हुआ नहीं देख सकते। अतः उसके क्लेशके मूलको दूर करते हैं। अतः *'कृपानिधि'* कहा। कृपा यह कि यदि यह (अभिमान) बढ़ गया तो फिर यह संसारचक्रमें पड़ जायगा, इससे उसके अभिमानको नष्ट करनेका उपाय करते हैं। यथा—*'करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी॥ बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी'* एवं *'अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुखखानि। तातें कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि॥'* (आ० ४४) अभिमान दूर करनेसे दासका हित है, इसीसे इसे प्रभुकी कृपा कही—*'मुनि हित कारन कृपानिधाना। दीन्ह——', 'हरहिं मान हित लागि।'*

२ *'सेवक पर ममता अति भूरी'* इति। (क) ममत्व सांसारिक सम्बन्धोंमें पुत्रपर सबसे अधिक माना गया है, यथा—*'सुत की प्रीति प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरिहै।'* (वि० २६८) *'सुत बित दार भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी।'* (वि० १४०) (इसीसे *'सुत'* को आदिमें रखा)। अतः *'सेवक पर ममता अति भूरी'* से जनाया कि बालक शिशुके समान सेवकपर ममत्व रखते और उसकी रक्षा करते हैं, यथा—*'बालक सुत सम दास अमानी' 'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥'* (३। ४३। ८-५) इसीसे यहाँ भी 'शिशु' का उदाहरण देते हैं (ख) *'अति भूरी'* से साधारण भूरि और अति भूरि तीन तरहके ममत्व जनाये। वस्तुपर लोभ साधारण ममता है, सुतपर प्रेम भूरि ममता है और उससे भी अधिक जो ममत्व प्राकृत ममत्वसे बढ़कर है वह 'अति भूरि ममता' है।

३ ☞ नारदप्रसङ्गमें *'गह सिसुबच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥'* कहा था और यहाँ शिशुतनमें व्रण होनेका दृष्टान्त दिया। इस प्रकार जनकी रक्षाके विषयमें दो सिद्धान्त कहे। एक अरण्यकाण्डमें दूसरा यहाँ।—(क) माताका बालककी रक्षा करना। यह कहकर एक प्रकारकी रक्षा वहाँ कही और यहाँ रक्षाका दूसरा प्रकार कहा। भाव कि उस तरहकी रक्षामें (सर्प और अग्निसे रक्षा करनेमें) कठोरताकी जरूरत नहीं होती, पर यदि रक्षाके लिये कठोरहृदय होनेकी आवश्यकता पड़े तो चित्तको कठोर करके रक्षा करते हैं। पुनः, (ख) दोनों जगह मिलाकर दो बातें कहनेके लिये दो दृष्टान्त दिये और जनाया कि भगवान् दुःखकी ओर जानेके पूर्व भी रक्षा करते हैं और कदाचित् दास दुःखमें पड़ गया तब भी उसका दोष समझकर छोड़ नहीं देते फिर भी रक्षा करते हैं। या यों कहते हैं कि एक तो दुर्गुणमें फँसने नहीं देते, पर यदि भूलसे गलती हो जाय, वह पातकमें फँस जाय, तो उस पातकका फल तुरंत दे देते हैं, भावी कर्मविपाकका झगड़ा नहीं रहने देते। यही चिराना है। अतः जनाया कि बाहर-भीतर दोनों शत्रुओंसे रक्षा करते हैं। यदि दोनोंको एक ही मानें तो उसका निर्वाह इस तरह होगा कि नारदको गर्व

हुआ यह व्रण था। उस गर्वको दूर करनेके लिये प्रभुने उनके रोनेकी कुछ पर्वा न की और यहाँ भुशुण्डिको मोह हुआ यह व्रण है, दौड़ते फिरे, हाथ पास ही लगा देख वे व्याकुल हुए, यह चिरानेमें रोना हुआ।

कोई महानुभाव ऐसा कहते हैं कि—अरण्यकाण्डमें नारदका प्रश्न है कि *'तब बिबाह मैं चाहिउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा॥'* (३। ४३। ३) इसका उत्तर जो प्रभु दे रहे हैं वह इस प्रकारका है कि *'भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा। करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥······दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥'* इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि वहाँ स्त्रीरूपी 'रिपु' (सर्प अग्नि) अभी दूर है, प्रथम ही उससे रक्षा करनेका प्रकरण है और यहाँ प्रसङ्गका उत्थान *'जन अभिमान न राखहिं काऊ'*, *'तातें करहिं कृपानिधि दूरी'* से हुआ है अर्थात् यहाँ रोग हो जानेपर उसके 'दूर' करनेका प्रकरण है। अतः वहाँ *'राखइ जननी अरगाई'* और यहाँ *'चिराव कठिन की नाईं'* कहा······। अथवा, भेद यह है कि नारदके मनमें कामोद्दीपन हुआ, वे उसकी तरफ दौड़े जा रहे हैं—*'हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला।'* अभी दूर हैं अतः वहाँ अलग करना कहा और यहाँ मोहने घर बना लिया है—*'महा मोह उपजा उर तोरें।'* अतः यहाँ व्रणका होना कहा।

४ *'कठिन की नाईं'* का भाव कि हृदयको कठोर कर लेती है, निर्दयी बन जाती है, इसीसे बालकके उस समयके रोदनपर किञ्चित् ध्यान नहीं देती। 'कठिनता' आगे दिखाते हैं—*'ब्याधि नासहित—।'*

वि० त्रि०—यहाँ अभिमानकी उपमा शरीरके व्रणसे दिया। अभिमानका उत्पन्न होना ज्ञानमयी शरीरमें व्रणका उत्पन्न होना है। *'गरुड़ महाज्ञानी गुनरासी। हरि सेवक अति निकट निवासी॥'* उन्हें दैवात् अभिमान हो गया अर्थात् व्रण हो गया। उसी व्रणपर शल्य (शस्त्र) चिकित्सा हो रही है, उन्हें काकसे जाकर हरिकथा सुननेके लिये प्रार्थनापूर्वक श्रोता बनना पड़ रहा है, यहाँपर सुशील भुशुण्डिजी उसी सिद्धान्तका निरूपण कर रहे हैं।

दो०—जदपि प्रथम दुख पावै रोवै बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनत* न सो सिसु पीर॥
तिमि रघुपति निज दासकर हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस न भजसि† भ्रम त्यागि॥ ७४॥

अर्थ—यद्यपि बालक पहले (फोड़ा चिराते समय) दुःख पाता और अधीर होकर रोता है तो भी रोगके नाशके लिये माता उसके उस (रोनेकी) पीड़ाको कुछ नहीं गिनती अर्थात् उसकी पर्वा नहीं करती। इसी प्रकार (जीवोंके स्वामी) श्रीरघुनाथजी अपने दासके हितके लिये उसका अभिमान दूर करते हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि ऐसे प्रभुको भ्रम छोड़कर क्यों नहीं भजते हो?॥ ७४॥

नोट—१ (क) *'जदपि प्रथम दुख पावै—।'* भाव कि दुःख उतनी ही देर रहता है, चिरनेपर नहीं रह जाता, फिर तो वह सुखी हो जाता है, रोना भी बंद हो जाता है। (ख) *'अधीर'* इससे कि एक माता ही उसकी गति है, सो वह भी रोनेकी पर्वा नहीं करती, जो पुत्रके एक काँटेकी भी पीड़ा नहीं देख सकती थी, वही निठुर होकर हाथ पकड़कर नशतर दिला रही है तब किसकी शरण जाय जो बचा ले। इसीसे उसका धैर्य जाता रहा, वह धीरज छोड़कर रो रहा है।

२—*'तिमि रघुनाथ—'* इति। यहाँ श्रीरघुनाथजी माता हैं, अभिमान व्याधि वा फोड़ा है। विषैले फोड़ेके न चिरवानेसे विष फैलनेसे मृत्यु हो जाती, वैसे ही अभिमानके बढ़नेसे भव अर्थात् बारंबार जन्म-मरण होता। व्याधिनाशसे बच्चेका हित, वैसे ही अभिमाननाशसे दासका हित। वहाँ फोड़ा चिरानेमें वह रोता और यहाँ अभिमानके नाशके उपायमें जो मायाका कौतुक होता है उससे दासका धैर्य जाता रहता है। वहाँ माता कठोर, वैसे ही यहाँ प्रभु कठोर हो जाते हैं।

* 'गनइ'। † भजसि—(का०)। भजहु—(भा० दा०)।

३—माताके समान पिताका ममत्व 'शिशु' पर नहीं होता, अतः माताका ही दृष्टान्त दिया। ☞ इस उदाहरणका एवं जो कुछ इस प्रसङ्गमें कहा गया है वह सब नारदजीके मोह-प्रसङ्गमें चरितार्थ है। ☞ यहाँतक भुशुण्डि-गरुड़-संवादका प्रकरण है। दोहेके उत्तरार्द्ध *'तुलसिदास ऐसे प्रभुहिं——'* में भावकी सबलतासे कविकी उक्ति है।

पं० रा० व० श०—१ भक्त अपनेको तृणसे तुच्छ समझता है। कोई फल-फूल-डाल इत्यादि तोड़े तो भी वृक्ष नहीं बोलता, वैसे ही भक्त कष्ट सहकर भी परोपकार ही करता है, शत्रु, मित्र, उदासीन सब उसके लिये एक-से हैं। ऐसा पुरुष भक्तिका अधिकारी होता है। ऐसे भक्तमें भी अभिमान हुआ कि वह गिरा। ***'हित लागि'*** से जनाया कि अभिमान सर्वथा अहितकारक है, ऐसा समझकर उसे दूर कर देते हैं। अभिमानकी दवा अपमान ही है, सत्कार पाकर वह बढ़ता है, जैसे नारदका बढ़ा। इसलिये ऐसे ही उपाय किये जाते हैं कि जिनसे उसका तिरस्कार हो। पुनः, **'हित लागि'** का भाव कि इसमें भगवान्‌का न कोई लाभ है न हानि। अभिमानसे हानि है तो उसकी, वह भोगेगा, यह प्रभु कृपालु होनेसे नहीं देख सकते, इसीसे अपना कोई लाभ न होनेपर भी भक्तका हित करते हैं, उनके हितको अपना हित समझते हैं।

सिद्धान्त		नारद-प्रसङ्गमें चरितार्थ
जन अभिमान न राखहिं काऊ	१	**उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी। बेगि सो मैं डारिहौं उखारी॥**
ताते करहिं कृपानिधि दूरी	२	**करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ——**
सेवक पर ममता अति भूरी	३	**पन हमार सेवक हितकारी**
हरहिं मान हित लागि	४	**मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करब मैं सोई॥** **जेहि बिधि होइहि परमहित..........सोइ हम करब........**
मातु चिराव कठिन की नाईं	५	**रूख बदन करि बचन मृदु बोले श्रीभगवान**
जदपि प्रथम दुख पावै रोवै	६	**मुनि अति बिकल मोह मति नाठी**

इसके आगे जो कठोर वचन भगवान्‌को कहे हैं वही अधीर रोदन है—*'कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी।'* क्योंकि पीछे पश्चात्ताप किया है—*'पाप मिटिहि किमि मोरे।'*

'ब्याधि नाश' से 'सुख'	७	**बिगत मोह मन हरष बिसेषा**
गनत न सो सिसु पीर	८	**'बोले मधुर बचन सुरसाईं' 'साप सीस धरि——'**

गौड़जी—*'सिसु तन व्रन——गनइ न सो सिसु पीर'* इति। भगवत्‌के कृपापात्रकी यों तो बराबर रक्षा होती ही रहती है तथापि वह साधारणतया संसारके सभी तरहके कर्मोंको करता हुआ मायाके चक्रसे बाहर तो नहीं है। वह कभी-कभी ऐसे कर्म भी कर बैठता है जिनके दुर्विपाकसे उसके घोर पतनका और भक्तिमार्गसे विचलित हो जानेका भयानक भय होता है, फिर वह कर्म चाहे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर किसी भी विकारसे उत्पन्न हुआ हो। इसी तरहका कर्म भक्तरूपी बालकके शरीरका व्रण है। ऐसे कर्मका तुरंत विपाक न हो जाय तो कई जन्मोंमें व्याजसहित बड़ा भयानक रूप धारण कर ले। इसलिये ऐसे कर्मका किसी-न-किसी ढंगसे प्रभु तात्कालिक विपाक कराकर भक्तके उस भयानक कर्मको नष्ट करा देते हैं। इस क्रियामें भक्तको महान् कष्ट होता है, परंतु उसके हितके लिये प्रभु उस पीड़ाको कुछ नहीं गिनते। कभी-कभी ऐसी घोर पीड़ामें भक्त घबड़ा जाता है और उसका विश्वास विचलित होने लगता है परंतु प्रभु उसके विश्वासकी भी रक्षा करते हैं, क्योंकि प्रभुकी प्रतिज्ञा है—**'न मे भक्तः प्रणश्यति।'** यह साधारणतया देखा जाता है कि भगवज्जन अनेक तरहके सांसारिक क्लेशोंमें पड़े रहते हैं और नास्तिक लोग सांसारिक भोग-विलासमें मग्न सब तरहसे सम्पन्न और सुखी देख पड़ते हैं। सांसारिक दृष्टिसे दुःखी भक्त वास्तवमें वही हैं जिनका व्रण चिराया जा रहा है और जिन्हें विषयोपभोगसे धीरे-धीरे विरत किया जा रहा है।

नोट—४ (क) *'तुलसिदास ऐसे प्रभुहि।'* यह अपने मनके द्वारा लोकको उपदेश है। (ख) *'ऐसे प्रभुहि'* अर्थात् जिनका ऐसा ममत्व अपने दासपर रहता है और जो सदा उसकी रक्षामें रहते हैं, ऐसे दयासागर हैं। (ग) *'प्रभु'* का भाव कि वे अपने जनके दोषको हरण करनेको तथा जनकी रक्षाके लिये स्वयं समर्थ हैं। अन्य देव अपने सेवकके दोषोंको अपहरण करनेको समर्थ नहीं हैं। रावण, बाणासुर आदिकी कथाएँ प्रमाण हैं। (घ) *'भ्रम त्यागि'* कहा, क्योंकि भ्रम भजनका बाधक है। भ्रममें सब प्रकारके मोह आ गये, जिनका अनुमान किया जा सकता है। *'भ्रम तजि भजहु भगत भयहारी'* (इत्यादि। सुं० २१। ८) देखिये। [भाव कि ऐसा उपकारी कोई नहीं—*'मातु पिता स्वारथ रत ओऊ।'* दूसरा कोई भी ऐसा निर्हेतु सहज उपकार कर सकता है, यह भ्रम छोड़ो। (रा० प्र०)। ☞ भगवान्‌की भक्तिमें चित्त नहीं हो तो समझ लो कि हम भ्रममें पड़े हैं।]

५—*'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ'* उपक्रम है और *'तुलसिदास ऐसे प्रभुहि—'* उपसंहार है, इसके बीचमें श्रीरामजीका स्वभाव कहा गया।

इति श्रीराम-सहज-स्वभाव-वर्णन समाप्त।

रामकृपा आपनि जड़ताई। कहौं खगेस सुनहु मन लाई॥ १॥
जब जब राम मनुज तन धरहीं। भक्त हेतु लीला बहु करहीं॥ २॥
तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ। बालचरित बिलोकि हरषाऊँ॥ ३॥

अर्थ—हे पक्षिराज! श्रीरामचन्द्रजीकी कृपा और अपनी मूर्खता कहता हूँ, मन लगाकर सुनिये॥ १॥ जब-जब श्रीरामचन्द्रजी मनुष्यदेह धारण करते हैं और भक्तोंके कारण एवं उनके प्रेमसे बहुत-सी लीलाएँ करते हैं॥ २॥ तब-तब मैं अवधपुरी जाता हूँ और बालचरित देखकर प्रसन्न होता हूँ॥ ३॥

खर्रा—अब कथाका उपोद्घात कहते हैं। *'रामकृपा आपनि जड़ताई'* से *'जूठन परै अजिर महँ—'* तक—यह सब बार-बार अवतार-समयमें रहनेका प्रसंग जो कहा वह उपोद्घात है।

नोट—१ *'राम कृपा आपनि जड़ताई'* कहना भक्त-लक्षण है, यथा—*'गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥'* (रा० प्र०)। पुनः, भाव कि कृपाका अनुभव वही कर सकता है, जो जड़तामें पड़ा हो। (*'जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानै सोई॥'* ये वचन अभी गरुड़जी अपने मुखसे कह चुके हैं)। मेरी जड़ता पराकाष्ठाकी थी, वैसे ही प्रभुकी कृपा भी पराकाष्ठाकी थी। (पं० रा० व० श०)।

२—*'राम कृपा आपनि जड़ताई'* इति। प्रथम रामकृपा कही तब अपना मोह। क्योंकि लीला जिसमें मोह हो जाता है वह तो भक्तके हितके लिये, उसके प्रेमके कारण करते हैं—*'भगत हेतु लीला बहु करहीं'*, पर उसमें उसको हो जाता है मोह। यही क्रम आगे है।

रा० शं० श०—सम्भव है कि *'आपनि जड़ताई'* कहता हूँ इससे गरुड़जी उसे न सुनें, अतः कहा कि *'सुनहु मन लाई।'* पुनः, भाव कि अपनी जड़ता ही कहते तो शिष्टजन किसीके दोष क्यों सुनने लगे, अतः कहते हैं कि रामकृपा ही इसमें प्रधान है। मेरी जड़ताका सम्बन्ध उस कृपासे है, उस जड़तामें ही कृपा मुझे देखनेमें आयी थी; अतः एकके बिना दूसरेका कथन हो ही नहीं सकता। जड़ता क्या है, यह आगे भागनेके प्रसंगमें कहेंगे कि यही जड़ता है।

पं०—*'मन लाई'* क्योंकि प्रभुके गुण मन लगाकर सुनने योग्य हैं और मायाका छल भी मन देकर सुनना चाहिये। सारांश कि तुमको मायाने छला है, अब सावधान हो जाओगे।

पं० रा० व० श०—*'मन लाई'* का भाव कि मन लगाकर सुननेपर ही ये दोनों बातें समझ पड़ेंगी, अन्यथा नहीं।

नोट—३ *'राम मनुज तनु धरहीं'* अर्थात् राम नामक परब्रह्म साकेताधीश आकर नरतनसे लीला करते हैं। यही बात आगे भी कही है—*'जब जब अवधपुरी रघुबीरा। धरहिं भगत हित मनुज सरीरा॥'* (११४। १२) श्रीरामावतार कल्प-कल्पमें होता है। यथा—*'कल्प-कल्प प्रति प्रभु अवतरहीं।'*

बाबा हरिदासाचार्यजीके मतानुसार इसका भाव यह है कि 'द्विभुज परात्पर परब्रह्म 'राम' ही सब अवतार लेते हैं, पर मैं तभी जाता हूँ जब अवधमें नर-शरीरसे अवतरित होते हैं।' विष्णु आदिका भी रामरूप धारण करना माननेपर भाव यह होगा कि अवतार तो और भी लेते हैं, पर मैं तभी आता हूँ जब 'राम' अवतार लेते हैं अर्थात् जब साकेतसे अवतार होता है। '*मनुज*' में 'मनु' वाले अवतारकी रियायत है।

बाबा हरिदासजी रसिक श्रीरामस्तवराजके श्लोक ३४ में 'श्रीवल्लभ, मत्स्यकूर्मादिरूपधारी, अव्यय' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि सर्वावतारी जनानेके लिये मत्स्य-कूर्म-वराहादि-रूपधारी कहा। अवतार लेनेपर भी आप द्विभुज धनुर्धर नित्य किशोररूप बने ही रहते हैं। इसीलिये 'अव्यय' विशेषण दिया अर्थात् पूर्वरूपको न छोड़कर दूसरा रूप धारण करते हैं, अर्थात् नित्यरूपसे स्थित हुए भी अनेक रूप प्रकट कर दिखाते हैं। वे रूप भी आपमें नित्य हैं। इसीको श्रुतिने कहा है कि 'चिन्मय अद्वितीय निष्कल अशरीरी ब्रह्मकी उपासकोंके लिये अनेक रूपोंसे कल्पना होती है। और उनके पुरुष-स्त्री-अंग-अस्त्रादिकी कल्पना, तथा २, ४, ६, ८, १०, १२, १६, १८ इत्यादि सहस्र हस्तपर्यन्त तथा उनके वरण वाहनकी कल्पना होती है। जो रामचन्द्र हैं वे ही भगवान् मत्स्यादि अवतारको धारण करते हैं। इस प्रकार तापनीके अन्तमें भी कहा है।—

'जैसे एक मणि नील-पीतादिसे युक्त होनेपर रूपके भेदको प्राप्त होता है, उसी प्रकार भगवान् भी उपासकोंके लिये रूपभेदको प्राप्त होते हैं। मत्स्यादिरूप धारण करनेपर भी वे अपने गुण, रूप और प्रतिज्ञासे च्युत नहीं होते। इसीसे अच्युत कहलाते हैं। नारदपञ्चरात्रके वचनका तात्पर्य यह है कि—श्रीरामचन्द्र भगवान् मूलतत्त्व हैं, वे ही देवादिभक्त-कार्यवश स्वयं प्रकट होते हैं और अपनेमें मत्स्यादिरूपोंकी प्रतीति करा देते हैं। 'कल्पना' शब्दका अर्थ '**कल्पनं समर्थनम्**' है अर्थात् अपने रूपमें तत्तद्रूपोंकी प्रतीति कराना ही कल्पना है। इस तरह विष्णु, नारायण, वासुदेव, हरि आदिको भी जानना; क्योंकि 'उनके नामकी निरुक्तिसे अपरिछिन्न चिदात्मक परात्परतत्त्व श्रीरामजी ही अनेक रूपसे प्रकट होते हैं' यह सिद्ध है। '**रमन्ते योगिनोऽनन्ते**' इस निरुक्तिसे सिद्ध परतत्त्वपरब्रह्म श्रीरामजी सर्वावतारी सर्वकारण कहे जाते हैं, उनको छोड़ दूसरा सर्वकारण नहीं हो सकता। मत्स्यादिरूप भी उनसे भिन्न नहीं हैं। पूर्वपरभावसे मत्स्यादिरूपोंमें अनित्यत्वकी शंका भी न करनी चाहिये। जैसे एक मणिमें नाना रंग प्रतीत होते हैं वैसे ही श्रीरामजीमें एक कालहीमें सब रूप सिद्ध हैं। इसी कारण सब रूप सनातन हैं और सर्वगुणवाले हैं, यह मानना चाहिये। वराहपुराणमें भगवान्‌के सब देह शाश्वत, हेय-उपादेय-रहित, परमानन्दसंदोह, सब ओरसे ज्ञानमात्र, सब सर्वगुणोंसे पूर्ण, सर्वदोषविवर्जित, प्रकृतिसे उतपन्न नहीं—यह कहा गया है। 'शाश्वत' से उन्हें अनादि बतलाया। इस तरह श्रीरामजीमें एक कालहीमें सब रूपोंकी सिद्धि यथार्थ रूपसे है। सबको प्रकृतिलेशरहित और परमानन्दपूर्ण कहा। ज्ञानमात्र कहनेसे गुणतः, स्वरूपतः, विग्रहतः स्वप्रकाशरूप बतलाया। सब अवतारोंमें सब गुण पूर्ण कहे। नृसिंह, राम, कृष्णादिमें तो षड्‌गुणपूर्ण ही बतलाया है। जिन रूपोंमें उन गुणोंकी प्रतीति न हो, उन्हें भी सर्वगुणपूर्ण ही मानना चाहिये। जिन गुणोंका जहाँ प्रयोजन पड़ता है, वही गुण उस समय प्रकट किये जाते हैं। इसी प्रकार अंश, कला इत्यादि-विवक्षा समझनी चाहिये। जैसे कोई एक सर्वशास्त्रका जाननेवाला है, परञ्च जहाँ जिसका प्रयोजन पड़ता है वहाँ वह उस शास्त्रका प्रकाश करता है। उस समय वह उसी शास्त्रका ज्ञाता कहा जाता है। जैसे वह कभी एक शास्त्रग्राही, कभी सर्वशास्त्रज्ञ कहा जाता है, वैसे ही अवतारी श्रीरामजीमें अवतारोंका भेद समझना चाहिये।—(श्लो० ३४ रामस्तवराजभाष्यसे अनुवादित)।'

'**सर्वावताररूपेण दर्शनस्पर्शनादिभिः। दीनानुद्धरते यस्तु स रामः शरणं मम॥**' इत्यादि पञ्चरात्रादिके वाक्योंसे यह निश्चित है कि वही रामाख्य परब्रह्म उपासकोंकी प्रार्थनासे उनके कार्यार्थ पृथ्वीमें अवतीर्ण होकर भक्तोंके कार्यको करते हैं। भुविमें अवतरणमात्रसे अवतार कहे जाते हैं—'**अवतरतीति अवतारः**।'

स्वामी श्रीभोलेबाबाने 'भवतरणोपाय' शीर्षक अपने लेखके अन्तर्गत '***रामका रूप***' इसके विषयमें कल्याण भाग ५ में जो लिखा है वह भी बाबा श्रीहरिदासजीके विचारोंका समर्थक है। वे लिखते हैं कि 'सब रूपोंसे परे होनेसे श्रीरामरूप स्वतन्त्र है, क्योंकि श्रीरामकी इच्छासे अनेक भगवत्-रूप लोकोंका कार्य कर रहे हैं। जैसा कि सदाशिवसंहितामें भी कहा है—

'महाशम्भुर्महामाया महाविष्णुश्च शक्तयः। कालेन समनुप्राप्ता राघवं परिचिन्तयन्॥' तथा—कूर्मपुराणमें—**'मत्स्यः कूर्मो वराहो नरहरिरतुलो वामनो जामदग्निः सभ्राता कंसशत्रुः करुणमदवपुर्लक्षिविध्वंसनश्च। एते चान्येऽपि सर्वे तरणिकुलभुवो यस्य जाताः कुलांशे तं व्याप्तं ब्रह्मतेजं विमलगुणमयं रामचन्द्रं नमामि॥'**

गौड़जी—*'जब जब राम मनुज तनु धरहीं'* इति। मानसकार परात्परब्रह्म राम, विष्णु, शिव, ब्रह्मा, नारायणादि रूपोंमें सर्वथा अभेद मानते हैं। ब्रह्म रामको अवतारी और नारायणादिको अवतार मानते हैं। इसलिये इस प्रसङ्गमें *'जब जब……'* के तीन तरहके अर्थ हो सकते हैं—

१—जब-जब ब्रह्मराम दाशरथि रामका तन धारण करते हैं।

२—जब-जब ब्रह्मराम कृष्णादि कोई भी मनुज-तन धारण करते हैं।

३—जब-जब विष्णु, नारायणादि, रामकृष्णादि मनुज-तन धारण करते हैं।—इन तीनों अर्थोंमें पहला ही अर्थ प्रस्तुत प्रसङ्गमें ग्राह्य है, क्योंकि भुशुण्डिजीकी उपासना ब्रह्मरामकी ही है और ब्रह्मराम जब दाशरथि होकर अवतरते हैं तभी भुशुण्डिजी और शिवजी बाललीला देखने आते हैं। भुशुण्डिजी और शिवजीका ध्यान उसी रामरूपका है। यथा *'जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥ जो भुसुंडि मनमानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥ देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥'* (१। १४६) दूसरा अर्थ इसलिये नहीं लगता कि यहाँ कृष्णादि अन्य रूपोंका कोई प्रयोजन नहीं है और तीसरा अर्थ भी नहीं लगता, क्योंकि भुशुण्डिजीकी उपासनासे वह भिन्न है।

नोट—४ *'भगत हेतु'* से जनाया कि जो लीला मैं कहनेको हूँ वह मेरे भावके अनुकूल कर रहे थे, पर मेरी ही मूर्खता थी कि मुझे मोह हो गया।—विशेष दोहा ७२ देखो। *'हरषाऊँ'* का कारण आगे स्वयं कहते हैं।

जन्म महोत्सव देखौं जाई। बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई॥ ४॥
इष्टदेव मम बालक रामा। शोभा बपुष कोटिसत कामा॥ ५॥
निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करौं उरगारी॥ ६॥
लघु बायस बपु धरि हरि संगा। देखौं बालचरित बहु रंगा॥ ७॥

अर्थ—जाकर मैं जन्ममहोत्सव देखता हूँ और लुब्ध होकर वहाँ पाँच वर्ष रहता हूँ॥ ४॥ बालकरूप श्रीरामचन्द्रजी मेरे इष्टदेव हैं। उनके शरीरमें असंख्यों कामदेवोंकी शोभा है॥ ५॥ हे सर्पोंके शत्रु! अपने प्रभुका मुख देख-देखकर मैं अपने नेत्रोंको सुफल करता हूँ॥ ६॥ छोटे कौएका शरीर धरकर भगवान्के साथ उनके बहुत प्रकारके बालचरित देखा करता हूँ*॥ ७॥

नोट—१ (क) *'जन्म महोत्सव देखौं……'* से जनाया कि जन्मके पूर्व ही वहाँ पहुँच जाते हैं। अभी सूतिकागारमें प्रभु हैं, अतः 'जन्ममहोत्सव' देखना कहा, क्योंकि अभी उनके दर्शन नहीं हो सकते। (ख) 'जन्ममहोत्सव' विप्रबालकके रूपसे देखने जाते हैं, यथा—*'कागभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुजरूप जानै नहिं कोऊ॥ परमानंद प्रेमसुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले॥'* (१। १९६) नोट (५) में देखिये। (ग) 'जाई' से जनाया कि शेष सब समय इसी आश्रममें रहता हूँ। अवतारके समय यहाँसे जाता हूँ।

२ *'बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई।'* (क) *'बरष पाँच'* का भाव कि बाल्यावस्था पाँच वर्षतक होती है और इसी अवस्थातकका रूप हमारा इष्ट है, इससे आगे नहीं। पर इसका भाव यह नहीं है कि पाँच वर्ष ही रहते फिर कभी नहीं रहते; क्योंकि यदि ऐसा अर्थ करेंगे तो आगे-पीछेके वाक्योंसे विरोध होगा, यथा—*'सुनु खगेस तेहि अवसर ब्रह्मा सिव मुनिबृंद। चढ़ि बिमान आये सब सुर देखन सुखकंद॥ ११॥' 'बैनतेय सुनु संभु तब आये जहँ रघुबीर॥ १३॥'* इत्यादिके *'आये'* शब्दसे भुशुण्डिजीकी इन अवसरोंपर भी उपस्थिति

* 'काको नाम्ना भुशुण्डस्तु कदाचिदाजगाम ह। स्वस्थानाच्च हरेर्भक्तो रामदर्शनलालसः॥ १॥', 'भुशुण्डोऽपि निजं स्थानं प्रापद्यत प्रहर्षितः। ध्यायमानः सदा रामं बालरूपिणमीश्वरम्।'

वहाँ पायी जाती है। तात्पर्य इतना ही है कि पाँच वर्षतक लुभाया-सरीखा रहता हूँ, इसके बाद वैसी दशा नहीं रहती। (ख) '**लुभाई**' का भाव कि जन्मोत्सवसे ही लुभा जाता हूँ, यद्यपि उस समय दर्शन नहीं मिलते। '**लुभाई**' अर्थात् '***परमानंद प्रेम सुख***' में फूला हुआ मग्न रहता हूँ, तन-मनकी सुधि नहीं रहती—'***बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले।***' कब दिन हुआ कब रात, दिन-रात जाते कुछ मालूम ही नहीं होता।

३—'***इष्टदेव मम बालक रामा***' का भाव कि मेरे गुरुने मुझे इसी स्वरूप और अवस्थाका ध्यान और भावना बतायी है, यथा—'***हरषित राममंत्र तब दीन्हा॥ बालकरूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहि मुनि कृपानिधाना॥***' (११३। ६-७) [रा० प्र०—जिस रूपके चिन्तन वा ध्यानमें जो रत हो वही उसका इष्ट है। इष्ट=चितचाहा देवता।]

४ '***लोचन सुफल करउँ उरगारी***' इति। **सुफल**=फलयुक्त, कृतार्थ, सार्थक। नेत्रोंका फल है श्रीरघुनाथजीका दर्शन। अतः '***निज प्रभु बदन निहारि निहारी***' कहकर नेत्रोंको फलयुक्त करना कहा। दर्शन हुआ मानो फल लगा दिया। नेत्रका विषय रूप है, अतः अपने विषयको पाकर नेत्र सुखी अवश्य होते हैं, पर सुफल नहीं कहे जा सकते, जबतक वह विषय भगवत्-रूप न हो। श्रीराम-दर्शनसे नेत्र सुफल होते हैं, यथा—'***लोचन सुफल करौं मैं जाई।***' (६। १०। ७; कुम्भकरण) '***होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भव मोचन॥***' (३। ६२। ९) (सुतीक्ष्णजी), '***निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं॥***' (३। २६) (मारीच), इत्यादि।

५—'***लघु बायस बपु धरि हरि संगा।***' (क) '***लघु बायस बपु धरि***' से जनाया कि इनका रूप दूसरा है, ये इस रूपसे दर्शन करने आया करते हैं। इनका वास्तविक रूप सत्योपाख्यान २६। २४—२६ में वर्णित है। वह इस प्रकार है कि पर्वताकार शरीर, भयानक बड़ी भारी चोंच है, महादीर्घ पक्ष हैं, तालवृक्षके समान महादीर्घ पैर हैं, जिनमें बड़े-बड़े नख हैं जो अङ्कुशके समान हैं। पुनः, छोटे कौएका रूप धारण कर लेते हैं, क्योंकि घरोंमें बड़े कौवे कभी देखनेमें नहीं आते। छोटा कौवा देख किसीको शंका न होगी और बालक भी छोटे कौवेसे भय नहीं खाते। (पं०)। पुनः, श्रीरामजी बालक हैं, इसीसे भुशुण्डीजी भी बालक काक बने। पशु-पक्षीके भी बालक कोमल और सुहावने लगते हैं, उनकी बोली भी कोमल होती है और मनुष्योंके बालकोंका उनपर स्वाभाविक प्रेम होता है। बड़ा काग होकर जाते तो बालक राम उसके साथ शिशुलीला न करते। (पं० प० प्र०) (ख) '***हरि संगा***' पदसे जनाया कि जब श्रीरामजी आँगनमें लाये जाने वा बकैयाँ चलने योग्य हो जाते हैं, घुटनों हाथोंके बल चलने लगते हैं, तब साथ-साथ लघुवायसरूपसे रहता हूँ। यथा—'***लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं तहँ तहँ संग उड़ाउँ।***' इसके पूर्व शिवजीके साथ शिष्य बनकर घरके भीतर जाकर दर्शन करते हैं, यथा—'***अवध आजु आगमी एकु आयो।—बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो। सँग सिसु सिष्य सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो। लै लै गोद कमल कर निरखत उर प्रमोद अनमायो॥***' (गी० बा० १४) इसीसे '**जन्ममहोत्सव**' देखनेमें '***लघु बायस बपु***' न कहा था, बालचरित देखनेमें कहा। '***बहुरंगा***'—बालचरित अनेक रंगके हैं, यथा—'***बालचरित चहुँ बंधु के बनज बिपुल बहु रंग॥***'(१। ४०) मानसरूपकमें बहु रंगके कमलोंकी उपमा दी है, अतः यहाँ भी '***बहु रंग***' कहकर वह सब भाव जना दिये। बाल० दोहा० ४० में देखिये। पुनः, **रंग**=प्रकार। **बहुरंगा**=बहुत प्रकारके एवं चित्र-विचित्र और आनन्दवर्द्धक—ये सब अर्थ और भाव 'रंग' के हैं। पुनः, रंग=रस, यथा—'***हमहू उमा रहे तेहि संगा। देखत रामचरित रनरंगा॥***' (लं० दोहा ८०। १)। रणरंग=वीररस, तथा यहाँ 'बहुरंगा'=अनेक रसोंके बालचरित। पुनः, यथा—'***मुनिधन जन सरबस सिवप्राना। बालकेलि रस तेहि सुख माना॥***' (१। १९८। २)

वि० त्रि०—अन्य अवस्थाओंके चरित्रमें तो धर्माचरण है, जिससे लोकको धर्ममार्गानुसरणकी शिक्षा है। यथा—'**धर्ममार्गं चरित्रेण**' (रा० ता०), अतः उसे एकरंगा कह सकते हैं। केवल बालचरित्र ही बहुरंगा है। यथा—'***कबहूँ ससि माँगत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैं। कबहूँ करतारि बजाइ कै नाचत मातु सबै मन मोद भरैं। कबहूँ रिसियाइ रहैं हठि कै, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं। अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन-मंदिर में बिहरैं॥***' (क० १। ४)

रा० शं० श०—आगे जो कहा है कि *'मो सन करहिं बिबिध बिधि क्रीडा' 'नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी'* इत्यादि, यही 'बहुरंग' के चरित हैं।

पं० रा० व० श०—*'बरष पाँच——'* इति। पाँच वर्षतक ही वे इष्ट हैं फिर नहीं, यह सुनकर ज्ञानी हसेंगे। कारण यह है कि ज्ञानी इस बातको समझ ही नहीं सकते, भगवान् ही भक्तके हृदयके भावको जानते हैं।

दो०—लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं तहँ तहँ संग उड़ाउँ।
जूठनि परइ अजिर महँ सो उठाइ करि खाउँ॥
एक बार अतिसै सब चरित किए रघुबीर।
सुमिरत प्रभु लीला सोइ पुलकित भएउ सरीर॥ ७५॥

अर्थ—बालपनमें (बालक राम) जहाँ-जहाँ फिरते हैं वहाँ-वहाँ मैं साथ-साथ उड़ता हूँ और आँगनमें जो जूठन पड़ती वही उठाकर खाता हूँ। एक बार श्रीरघुवीरने अत्यन्त लड़कपनवाले एवं अत्यन्त अधिकाईसे सब चरित किये (अर्थात् जो-जो चरित किये, उन्हें सीमातक पहुँचा दिये, उससे अधिक क्या, उसके समान भी वह चरित कोई बालक कर ही नहीं सकता)। प्रभुकी वह लीला स्मरण करते ही भुशुण्डिजीका शरीर (प्रेमसे) रोमाञ्चित हो आया॥ ७५॥

नोट—१ *'लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं'* कहकर *'जूठनि परइ अजिर महँ'* कहनेका भाव कि हाथमें पुवा, पक्वान्न लिये हैं, आँगनमें फिरते हुए खाते जाते हैं, इसीसे जूठन भी जहाँ-तहाँ गिरती थी—यह बात आगे वे स्वयं कहते हैं।

२ (क)—*'एक बार'—'जब जब राम मनुज तनु धरहीं'* (७५। २) से यहाँतक अपना अवधको आना, भिन्न-भिन्न रूपोंसे जन्मोत्सव देखना, प्रभुका दर्शन करना, साथ-साथ फिरना, बालचरित देखना, जूठन खाना इत्यादि कहकर तब *'एक बार अति——'* कहकर जनाया कि यहाँतक तो सदाका चरित्र एक-सा रहता रहा। पर अब जो चरित कहते हैं वह एक ही बार हुआ और कभी नहीं।

(ख) *'एक बार अतिसै——'* का भाव कि सब चरित पहले भी किये थे, पर वे चरित 'अतिशय' न थे वा 'अत्यन्त लड़कपनवाले' न थे और इस बार (उस दिन, दफा वा समय) जो चरित किये वे अत्यन्त लड़कपनवालोंके थे एवं वे प्राकृत बालकोंके चरितोंकी सीमासे अत्यन्त बढ़े हुए थे। अतिशय=सीमाको लाँघनेवाले। अधिकाईके (प्र० सं०)=बहुत माधुर्यके (वि० त्रि०)=बहुत अद्भुत। (पं० रा० व० श०) रा० प्र० कार लिखते हैं कि कोई कहते हैं कि *'अतिसै चरित'* से यह लीला परस्वरूपकी जनायी।

नोट—३ भा० दा० में *'अतिसै सब'* पाठ है और प्रायः यही पाठ बहुतोंने दिया है। काशिराजकी रा० प० में *'अति सैसव'* पाठ है। पं० वि० त्रि० जीने भी यही पाठ रखा है। मुझे भी यही पाठ उत्तम लगता है; अतः इस संस्करणमें हमने दोनों अर्थ दिये हैं। सम्भव है कि 'व' के नीचे बिन्दु छूट जानेसे 'ब' पढ़ा गया और इस तरह 'सब' एक शब्द बन जानेसे 'अतिसै' दूसरा मान लिया गया हो। भाव हमने दोनों पाठोंके दे दिये हैं।

वि० त्रि०—*अतिसै सब'* चरितका अर्थ 'अत्यन्त लड़कपनवाला चरित्र' भी होता है, और यहाँ शैशव चरित्रका प्रसङ्ग भी है। भुशुण्डिजी कहते हैं कि जब-जब रामावतार होता है तब-तब मैं अयोध्या जाता हूँ और 'बहुरङ्गा' बालचरित्र देखता हूँ, पर मुझे मोह नहीं हुआ। परंतु एक बार तो लड़कपनके चरित्रमें ऐसा माधुर्य दिखलाया कि मुझे मोह हो गया।

नोट—४ 'रघुबीर' इति। यहाँ 'रघुवीरसे' दयावीरता दिखायी अर्थात् उन्होंने जो अति शैशव चरित किये वह मुझपर उनकी कृपा थी, बालस्वरूप मेरा इष्ट है, अतएव ऐसा किया—*'भगत हेतु लीला बहु करहीं', 'रामकृपा आपनि जड़ताई।'*

पं० रा० व० श०—*'पुलकित भयेउ सरीर'* इति। इससे जनाया कि उस लीलाका स्मरण आते ही आँखें बंद हो गयीं, रोमाञ्च हो आया और वे सुखमें मग्न हो गये, अतः वाणी रुक गयी। इसीसे यहाँ शिवजी उनकी दशा कहने लगे। जब उस सुखसे निकले तब फिर भुशुण्डिजी कहने लगे, यथा—*'कहइ भुसुंडि......'*

रा० शं० श०—'पुलकित' का कारण कि माधुर्यसे भरे हुए थे।

रा० प्र०—*'सुमिरत पुलकित भएउ सरीर।'* क्योंकि चित्तपर चढ़नेसे 'बोधरूप सम्मुख आ जाता है।'

कहै भसुंडि* सुनहु खगनायक। रामचरित सेवक† सुखदायक॥ १॥
नृप मंदिर सुंदर सब भाँती। खचित कनक मनि नाना जाती॥ २॥
बरनि न जाइ रुचिर अँगनाई। जहँ खेलहिं नित चारिउ भाई॥ ३॥

शब्दार्थ—**खचित**=खींचा हुआ, **चित्रित**=जड़ा हुआ, जटित। 'अँगनाई'=आँगन, घरके भीतरका वह खुला हुआ चौक वा स्थान जिसके चारों ओर कोठरी, दालान आदि कुछ बनी हुई हों।

अर्थ—भुशुण्डिजी कहते हैं कि हे पक्षिराज! सुनिये। श्रीरामजीका चरित्र सेवकोंको सुख देनेवाला है (एवं सेवक सुखदायक, रामचरित्र सुनिये)॥ १॥ राजभवन सब प्रकार सुन्दर है, वह अनेक जाति एवं प्रकारकी मणियोंसे जड़े हुए सोनेका है। मणिसे चित्रसारी रची गयी है॥ २॥ दीप्तिमान् सुन्दर आँगनका वर्णन नहीं किया जा सकता कि जहाँ नित्य चारों भाई खेलते हैं॥ ३॥

नोट—१ (क) *'कहै भसुंडि'* का भाव कि ध्यान टूटनेपर फिर जहाँ छोड़ा था वहींसे उठाया। वहाँ *'सब चरित किये रघुबीर'* पर छोड़ा था और यहाँ *'रामचरित सेवक......'* से प्रारम्भ किया। (ख) *'रामचरित सेवक सुखदायक'* का भाव कि जो जिसका गुण नहीं जानता, उसको उसमें रस वा सुख कहाँ? सेवक इसके रसको जानते हैं, अतः उन्हींको चरितका यथार्थ सुख मिलता है। (पं० रा० व० श०) पुनः, भाव कि जो चरित मैं कहनेको हूँ वह मुझ सेवकको सुख देनेके लिये हुआ और उससे मुझे बड़ा सुख हुआ। तथा सभी सेवकोंको सुखदायक हैं, यथा—*'सेवक सालि पाल जलधर से', 'रामभगत जन जीवनधनसे', 'रामचरित-राकेसकर सरिस सुखद सब काहु। सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेषि......॥'* (१। ३२), *'बालचरित हरि बहु बिधि कीन्हा। अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा॥'* (१। २०३। १)

२ *'रुचिर अँगनाई'* इति। *'रुचिर'* (शब्दपर आ० १७। ७) देखिये। *'बरनि न जाइ'* कारण कि एक तो वह स्वयं रुचिर है, दूसरे चारों भाइयोंका वह बाल-क्रीड़ास्थल है, तब कैसे वर्णन हो सकता है। क्रीड़ासे उसमें क्षण-क्षण नित्य नवीन रुचिरता उत्पन्न होती है। *'रुचिर अँगनाई'* कहकर *'जहँ खेलहिं नित चारिउ भाई'* कहनेका भाव कि सब भाइयोंके प्रतिबिम्ब चारों ओर खम्भों और आँगनमें पड़नेसे आँगन अत्यन्त दीप्तिमान् रहता है। यथा—*'मनिखंभन्ह प्रतिबिंब-झलक छबि छलकिहि भरि अँगनैया।',* (गी० बा० ९) अतः *'रुचिर'* और *'बरनि न जाई'* कहा। पुनः, (ख) *'नित'* का भाव कि एक बार जिसको चरणका स्पर्श हो जाता है उस भूमिका तो कोई वर्णन कर ही नहीं सकता और जहाँ नित्यप्रति दिन-दिनभर उनके चरण पड़ते हैं उसका वर्णन कौन कर सकता है? यथा—*'परसि चरनरज अचर सुखारी। भये परम पद के अधिकारी॥ सो बन सैल सुभाय सुहावन। मंगलमय अति पावन पावन॥—कहि न सकहिं सुषमा जसि कानन। जौं सत सहस होंहि सहसानन॥ सो मैं बरनि कहौं बिधि केहीं। डाबर कमठ कि मंदर लेहीं॥'* (२। १३९)

प० प० प्र०—*'नृपमंदिर'* इति। जबतक श्रीरामजी केवल कौसल्या अम्बाके महलमें रहे, जानु-पाणि-विचरणयोग्य नहीं थे, तबतक दशरथजीके निवासको *'मंदिर'* नहीं कहा गया। यथा—*'मंदिर मनिसमूह जनु तारा। नृपगृह कलस सो इंदु उदारा॥'* (१। १९५। ६) इस उद्धरणमें मंदिर शब्दसे कौसल्या-भवन ही अभिप्रेत है। दशरथ-भवनको यहाँ *'नृपमंदिर'* कहकर जनाया कि उस समय श्रीरामजी उस मंदिरमें विहार करते थे।

* भसुंड—भा० दा०। † सेवत—(का०)। अर्थात् 'विचार करनेमें सुखदायक।' भाव कि चरितरूपी मूर्ति नाम, रूप, लीला, गुण, धाम सब प्रभुके सम तुल्य और सुखदायक हैं।

बाल बिनोद करत रघुराई। बिचरत अजिर जननि सुखदाई॥ ४॥
मरकत मृदुल कलेवर स्यामा। अंग अंग प्रति छबि बहु कामा॥ ५॥

अर्थ—माताको सुख देनेवाले रघुनाथजी बाल-विनोद (बालक्रीड़ा-केलि, लीला) करते आँगनमें विचरते हैं॥ ४॥ नीलमणिके समान श्याम और कोमल शरीर है, अङ्ग-अङ्गमें अनेक कामदेवोंकी छबि है॥ ५॥

रा० शं० श०—शतरूपाजीने याचना की और संदेह किया था कि ब्रह्म होकर हमें पुत्रका सुख कैसे दीजियेगा, इससे जननीको सुख देते हैं।

नोट—१ *'बिचरत अजिर जननि सुखदाई'* इति। अजिरमें विचरणसे माताको सुखदायी कहनेका भाव कि—(क) माताको बड़ी लालसा थी कि कब ये हाथों और घुटनोंके बल तथा पैरोंसे ठुमुक-ठुमुककर चलेंगे, यथा—(गी० बा० ८)—

'ह्वैहो लाल कबहिं बड़े बलि मैया। राम लषन भावते भरत रिपुदमन चारु चारौ भैआ॥
बाल बिभूषन बसन मनोहर अंगनि बिरचि बनैहौं। सोभा निरखि निछावरि करि उर लाइ बारने जैहौं॥
छगन मगन अँगना खेलिहौ मिलि, ठुमुकि ठुमुकि कब धैहौ। कलबल बचन तोतरे मंजुल कहि 'माँ' मोहि बोलैहौ॥
(गी० बा० ९)—**'पगनि कब चलिहौ चारौ भैया। प्रेम पुलकि उर लाइ सुवन सब कहत सुमित्रा मैया॥**
सुंदर तन सिसु बसन बिभूषन नखसिख निरखि निकैया। दलि तृन प्रान निछावरि करि करि लैहैं मातु बलैया॥
किलकनि नटनि चलनि चितवनि भजि मिलनि मनोहरतैया। मनिखंभन्हि प्रतिबिंब झलक छबि छलकिह भरि अँगनैया॥
बाल बिनोद मोद मंजुल बिधु लाला ललित जोन्हैया। भूपति पुन्यपयोधि उमगि पुर घर-घर अनँद बधैया॥
ह्वैहैं सकल सुकृत-सुख-भाजन लोचन लाहु लुटैया। अनायास पाइहैं जन्म फल तोतरे बचन सुनैया॥

पुनः, (ख)—जबतक बच्चा बाहर जाने योग्य नहीं होता तबतक उसका पूर्ण सुख माताहीको होता है, क्योंकि पिता दिन-रात घरके भीतर रह नहीं सकता, अतः *'जननि सुखदाई'* कहा। (ग) *'जननि'* से माता कौशल्याके अतिरिक्त और भी सभी माताओंको सुखदायी सूचित किया, यथा—*'छँगन मँगन अँगना खेलत चारु चारौ भाई। सानुज भरत लाल लषन राम लोने लोने लरिका लखि मुदित मातु समुदाई॥'* (गी० १। २७)

२—बालविनोदके सम्बन्धसे *'बिचरत'* शब्द यहाँ बड़ा उत्कृष्ट पड़ा है। विचरण आनन्दपूर्वक चलने-फिरनेका द्योतक है।

३—*'मरकत मृदुल कलेवर स्यामा'* इति। (क) *'मरकत'* से केवल श्यामवर्णकी उपमा यहाँ दी गयी है। तो भी इसमें और भी अङ्ग और भाव प्रदर्शित होते हैं। वह यह कि शरीर मणिवत् प्रकाशमान हैं, श्यामवर्ण स्थायी है, इत्यादि। (ख) ☞ गोद और हिंडोलेके समय *'मरकत'* की उपमा न देकर कविने *'नील कंज बारिद'* की उपमा दी है—*'कामकोटि छबि स्याम शरीरा। नीलकंज बारिद गंभीरा॥'* (१। १९९। १) और यहाँ *'मरकत'* की। भेदका एक भाव यह भी है कि गोदमें जबतक रहे तबतक शरीर अत्यन्त कोमल था और अब कुछ पुष्ट हुआ है, जिससे अजिरमें विचर रहे हैं, भाइयोंके साथ खेलते हैं। अतः अब **'मरकत'** की उपमा दी। पुनः, (ग) अब मणिके फर्शपर खेलते हैं, अतः उसके साहचर्यसे मरकतकी उपमा और भी उत्तम हुई है।

४—*'अंग अंग प्रति छबि बहु कामा'*, यथा—*'नीलकंज जलदपुंज मरकत मनि सदृस स्याम। काम कोटि सोभा अँग अँग ऊपर वारी॥'* (गी० १। २२) *'अँग अँग पर वारियहि कोटि कोटि सत काम।'* कामदेव देवताओंमें सबसे अधिक सुन्दर है। वैसे असंख्यों कामदेव एकत्र हों तो भी किसी एक अङ्गकी आभाके समान नहीं हो सकते।

नव राजीव अरुन मृदु चरना। पदज रुचिर नख ससि-दुति हरना॥ ६॥
ललित अंक कुलिसादिक चारी। नूपुर चारु मधुर रवकारी॥ ७॥
चारु पुरट मनि रचित बनाई। कटि किंकिनि कल मुखर सुहाई॥ ८॥

अर्थ—नवीन (खिले हुए) लाल कमलके समान लाल-लाल कोमल चरण हैं। अँगुलियाँ सुन्दर प्रकाशयुक्त हैं। नाखूनकी चमक चन्द्रमाकी कान्तिका हरने-(फीका व मात करने) वाली है॥ ६॥ (तलवेमें) वज्रादिक चार सुन्दर अङ्क (चिह्न, रेखाएँ) हैं। सुन्दर नूपुर (पाजेब घुँघरू) सुन्दर मधुर शब्द करनेवाले (चरणमें) हैं॥ ७॥ मणियोंसे जड़ी हुई उत्तम सोनेकी बनायी हुई सुन्दर करधनीका सुन्दर शब्द सुहावना लग रहा है। वा, सुन्दर शब्दवाली क्षुद्रघण्टिका कमरमें शोभित हो रही है॥ ८॥

रा० शं० श०—'*नवराजीव*'। चरणोंको राजीवकी उपमा जहाँ-तहाँ दी गयी है पर यहाँ बाल्यावस्थाके चरण हैं, अतः '*नवराजीव*' की उपमा दी।

नोट—१ '*अरुन मृदु चरना*' इति। अरुण कहकर जनाया कि तलवे लाल हैं। '*मृदु*' तो सरकारके चरण सदैव हैं, इनकी कोमलता तो श्रीजनकनन्दिनीजी ही जानती हैं कि जो उनका लालन-पालन निज कोमल कर-कमलोंसे करती हैं, यथा—'*जानकी करसरोजलालितौ*' (मं० श्लो० २)। पर यहाँ '*मृदु*' कहनेका एक भाव और यह है कि अभी चलनेमें कमजोर हैं, गिर-गिर पड़ते हैं, यथा—'*परस्पर खेलनि अजिर उठि चलनि गिरि-गिरि परनि।*'(गी० १। २५)

२ '*ललित अंक कुलिसादिक चारी*' इति। (क) '*ललित अंक*' का भाव कि अङ्क तो बहुत हैं, पर ये चार हमें बड़े सुन्दर लगते हैं। पुनः, कुलिशादिकसे ध्वज, अंकुश और कमल—ये तीन और सूचित किये, यथा—'*ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे*', '*अरुन चरन अंकुस ध्वज कंज कुलिस चिह्न रुचिर भ्राजत अति।*' (गी० बा० २२) ये भक्तोंके लिये बहुत हितकर हैं, उपकारी हैं; अतः 'ललित' हैं। ३-'*नूपुर चारु मधुर रवकारी*' इति। अर्थात् नूपुरका रुनझुन शब्द ऐसा सुन्दर है कि मुनितक मोहित हो जाते हैं। यथा—'*रुचिर नूपुर किंकिनी मन हरति रुनझुन करनि।*' (गी० १। २४), '*रुनझुन करति पाँय पैजनियाँ।*' (गी० १। ३१), '*कटि किंकिनी पैजनी पायनि बाजति रुनझुन मधुर रेंगाये।*' (गी० १। ३२) '*नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहइ।*' (१। १९९। ३), '*नूपुर जनु मुनिबर कलहंसनि रचे नीड दै बाँह बसाए।*' (गी० १। २३) '*मुखर*'=शब्द। इस अर्थमें इसका प्रयोग कविने जहाँ-तहाँ किया है, यथा—'*चारु चरन नख लेखति धरनी। नूपुर मुखर मधुर कबि बरनी॥*' (अ० ५८। ५)

दो०—रेखा त्रय सुंदर उदर नाभी रुचिर गँभीर।
उर आयत भ्राजत बिबिधि बाल बिभूषन चीर॥ ७६॥

अर्थ—पेटमें सुन्दर तीन रेखाएँ (त्रिवली) हैं, नाभि सुन्दर गहरी है, विशाल वक्षःस्थलपर अनेक प्रकारके बहुत-से बालकोंके आभूषण और वस्त्र शोभायमान हैं॥ ७६॥

नोट—'*नाभी रुचिर गँभीर*', यथा—'*नाभि गँभीर जान जिहिं देखा।*' (१९९। ४) देखिये। '*रुचिर*' से जनाया कि भँवरके समान आवर्त्तदार है। दाहिनावर्त्त है। '*नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भँवर छबि छीनि।*' (१। १४७) देखिये। रा० प्र० कार कहते हैं कि गम्भीरमें यह आशय झलकता है कि ब्रह्मा इसी स्थानमें रहकर अनेक ब्रह्माण्ड रचते हैं।

अरुन पानि नख करज मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर॥ १॥
कंध बालकेहरि दर ग्रीवाँ। चारु चिबुक आनन छबि सीवाँ॥ २॥
कलबल बचन अधर अरुनारे। दुइ दुइ दसन बिसद बर बारे॥ ३॥
ललित कपोल मनोहर नासा। सकल सुखद ससिकर सम हासा॥ ४॥

शब्दार्थ—कलबल=अस्पष्ट (स्वर)!=(शब्द) जो अलग-अलग न मालूम हो, गिलबिल। तोतले और कलबल वचनमें बहुत सूक्ष्म भेद है। तोतले वचन वे हैं जिसमें रुक-रुककर टूटे-फूटे शब्द मुँहसे निकलते हैं, अक्षर ठीक-ठीक उच्चारण नहीं होते, यथा—'*कलबल बचन तोतरे मंजुल कहि माँ मोहि बोलैहौ।*' (गी० १। ८) '*बाल बोल बिनु अर्थ के सुनि देत पदारथ चारि।*' (गी० १। १९)

अर्थ—लाल हाथ (हथेली), नख और अँगुलियाँ मनको हरण करनेवाली हैं। भुजाएँ लम्बी हैं और उनमें सुन्दर गहने हैं॥ १॥ कन्धे, बाल (बाल्यावस्थाके) सिंहके समान हैं। कंठ शंखके समान (त्रिरेखायुक्त और सुडौल) है। सुन्दर ठोढ़ी और मुख छविकी सीमा है॥ २॥ गिलबिल वचन हैं, होंठ लाल हैं। उज्ज्वल, सुन्दर एवं श्रेष्ठ और छोटे-छोटे दो-दो दाँत (ऊपर-नीचे) हैं॥ ३॥ गाल सुन्दर और नासिका मन हरनेवाली हैं, सम्पूर्ण सुख देनेवाली चन्द्रकिरणके समान मुसुक्यान है॥ ४॥

नोट—१ (क) *'नख'* यहाँ दो बार आया है, एक पूर्व *'पदज रुचिर नख ससि दुति हरना'*, दूसरे यहाँ। पहले पदजके साथ देकर पैरोंके नखकी कान्ति कही, फिर पाणि और करजके साथ देकर हाथोंके नखकी मनोहरता कह रहे हैं। अतः दो बार कहा। (ख) दोहा १। १९९। १—१२ में जो ध्यान है उसमें *'पानि नख करज'* की मनोहरताका वर्णन नहीं है और भुशुण्डिजीने अपने वर्णनमें इन्हें भी कहा है। भेद भी साभिप्राय है। यहाँ भुशुण्डिजीके प्रसङ्गमें इनका बहुत काम पड़ा है—बकैयाँ चलनेमें हाथ काम आ रहा है, इसीसे भुशुण्डिजीको पूप दिखाते हैं, इसीसे उनको पकड़ने दौड़ते हैं और सबसे विशेष बात यह है कि इस कर कमलका स्पर्श भुशुण्डिजीके मस्तकको हुआ है। यथा—*'किलकत मोहि धरन जब धावहिं। चलउँ भाजि तब पूप देखावहिं॥'*, *'जानु पानि धाये मोहि धरना'*, *'राम गहन कहँ भुजा पसारी'*, *'जिमि जिमि दूरि उड़ाउँ अकासा। तहँ भुज हरि देखउँ निज पासा'*—*'कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ।'* भुशुण्डिजीके साथ बालक्रीड़ा करनेमें इनकी प्रधानता है तब वे इन्हें कैसे भूल सकते। इसके पूर्व बालकको हाथ उठाकर दूसरेपर रखनेका ज्ञान भी नहीं होता और न इनका विशेष काम रहता है, अतः पूर्व ध्यानमें न लिखे गये। (ग) *'बाहु बिसाल'* कहकर आजानुबाहु जनाया अर्थात् घुटनेपर्यन्त लम्बी भुजाएँ हैं। पुनः, 'विशाल' विशेषण साभिप्राय है, इनकी 'विशालता' भुशुण्डिजी भलीभाँति जानते हैं, यथा—*'राम गहन कहँ भुजा पसारी॥'*—*'ब्रह्मलोक लगि गएउँ मैं चितयउँ पाछ उड़ात। जुग अंगुल कर बीच सब रामभुजहि मोहि तात॥ सप्तावरन भेद करि जहाँ लगे गति मोरि। गएउँ तहाँ प्रभु भुज निरखि ब्याकुल भएउँ बहोरि॥'* (७९)—अतः 'विशाल' कहा। 'विभूषण सुन्दर'। विभूषण=आभूषण, गहना। बाहुमें जहाँ-तहाँ बहुत-से आभूषणोंका होना वर्णन किया गया है, यथा—*'भुज बिसाल भूषन जुत भूरी।'* (१। १९९) *'रुचिर बाँह भूषन पहिराए।'* (गी० १। २३) अतः यहाँ 'विभूषण' से 'बहुत भूषण' अर्थ लेना चाहिये। 'वि' उपसर्ग है जो शब्दोंके पहले लगकर अनेक अर्थ देता है, एक अर्थ 'विशेष और बहुत' भी है। कंकड़, अङ्गद, जोशन, कड़ा, पहुँची इत्यादि बाहुके भूषण हैं।

२ (क) *'कंध बालकेहरि।'* अभी बालस्वरूप है, अतः बालसिंहकी उपमा दी है, बड़े होनेपर सिंहकी उपमा दी है, यथा—*'केहरिकंधर बाहु बिसाला।'* (१। २१९) *'सिंहकंध आयत उर सोहा।'* (सुं० ४५) सिंहके बच्चेके समान कहकर जनाया कि भरे हुए सुगढ़, उन्नत और पुष्ट हैं, यथा—*'सुगढ़ पुष्ट उन्नत कृकाटिका कंबु कंठ सोभा मानति।'* (गी० उ० १७) (ख) *'दर ग्रीवाँ'* इति। *'रेखैं रुचिर कंबु कल ग्रीवाँ। जनु त्रिभुवन सुषमा की सीवाँ॥'* (१। २४३। ८) देखिये। शङ्खके समान त्रिरेखायुक्त है। (ग) *'चारु चिबुक आनन छबि सीवाँ'*—*'छबि सीवाँ'* कहकर जनाया कि इनका वर्णन नहीं हो सकता, इन्हें देखकर अगणित काम लज्जित हो जाते हैं। यथा—*'मुख छबि कहि न जाइ मोहि पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥'* (१। २३३) *'सोभापर वारौं अमित असमसर।'* (गी० १। ३०)

३ (क) *'कलबल बचन।'*—शब्दार्थमें देखिये। (ख) *'दुइ दुइ दसन बिसद'*, *'श्रवन अधर सुंदर द्विज छबि अनूप न्यारी। मनहुँ अरुन कंज कोस मंजुल जुगपाँति प्रसव, कुंदकली जुगल जुगल परम सुभ्रवारी॥'* (गी० १। २२)—इस उदाहरणमें *'अधर अरुनारे'* और विशद दाँतोंकी शोभा वर्णित है। (ग) बारे=छोटे, यथा—*'भ्रूपर अनूप मसिबिन्दु बारे बारे बार बिलसत सीस पर हेरि हरै हियो है।'* (गी० बा० १०)

४ (क) *'ललित कपोल'* कहकर भरे हुए और सुचारु जनाया, यथा—*'सुंदर श्रवन सुचारु कपोला।'* (१। १९९। ९) (ख) *'सकल सुखद ससिकर सम हासा'* इति। शशिकर शीतल है, तापहारक है,

सुखद है, अमृत टपकाता है, यथा—'*ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥*' (१। १२०। १) पर वह सबको सुखद नहीं होता, कोककमलको दुःखद है और यह '*सकल सुखद*' है। पुनः, '*सकल सुखद*' का भाव कि इस हँसीसे ही हमें सब सुख प्राप्त हुआ। ज्ञान, विवेक, विरति आदि सब सुख हैं, यथा—'*अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुखखानि॥*' (८३) *ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना।......प्रभु कह देन सकल सुख सही।*' प्रभुने ये सब दिये और अविरल भक्ति भी दी। अतः '*सकल सुखद*' सब प्रकारके सुख देनेवाला कहा। चन्द्रकिरण ये सब प्रकारके सुख नहीं दे सकता।

बा० १९९। १—११ वाले ध्यानमें '*हास*' का वर्णन नहीं है। पर यहाँ '*हास*' का प्रसंग है। आदि, मध्य और अन्तमें अर्थात् आद्यन्त हास्यका ही चरित है तथा बालक्रीड़ामें भी प्रभु इनको देख-देखकर हँसते हैं, यथा—बालक्रीड़ा—'*आवत निकट हँसहिं प्रभु भाजत रुदन कराहिं।*' (७७)

मोहके प्रारम्भमें—'*भ्रम ते चकित राम मोहि देखा। बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा॥*' (१। ७९। ४)

मध्यमें—'*मूदेउँ नयन त्रसित जब भएउँ। पुनि चितवत कोसलपुर गएउँ॥*' (८०। १)

'*मोहि बिलोकि राम मुसुकाहीं। बिहँसत तुरत गएउँ मुख माहीं॥*' (८०। २)

अन्तमें—'**देखि कृपाल बिकल मोहि बिहँसे तब रघुबीर। बिहँसत ही मुख बाहेर आएउँ सुनु मतिधीर**'॥ ८२॥

हँसीहीका सारा खेल था, अतः वह चित्तसे कब विस्मरण हो सकता था। हँसी देखी है अतः उसकी उपमा भी दी। चन्द्रकिरणकी उपमा दी; क्योंकि चन्द्रमा शीतल होता है और प्रभुकी हँसी उनकी कृपाका द्योतक है, यथा—'*हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥*' (१। १९८। ७) पुनः, प्रभुकी माया भुशुण्डिजीको दुःखद न हुई थी, अतः उस हँसीको शशिकर-सम कहना युक्तियुक्त है। ☞ (बा० १९९) में माताके देखनेका प्रसंग है, अतः वहाँ हास्य अयुक्त था और भुशुण्डिके साथ बालक्रीड़ा है, यह केलि है। पुनः, हास माया है। यहाँ भुशुण्डिके प्रसंगमें मायाको प्रभुने प्रेरित किया है।

नीलकंज लोचन भवमोचन। भ्राजत भाल तिलक गोरोचन॥५॥
बिकट भृकुटि सम श्रवन सुहाए। कुंचित कच मेचक छबि छाए॥६॥
पीत झीनि झगुली तनु सोही। किलकनि चितवनि भावति मोही॥७॥

शब्दार्थ—'*गोरोचन*'—पीले रंगका एक सुगन्धित द्रव्य जो गौके हृदयके पास पित्तमेंसे निकलता है। यह मंगलजनक, कान्तिदायक और वशीकरण करनेवाला माना जाता है। '*किलकनि*'—वह अस्पष्ट स्वर जो हर्षमें मुखसे निकलता है। **कुंचित**=टेढ़े और बल खाये हुए, छल्लेदार।

अर्थ—नील कमल-समान नेत्र भवबन्धन छुड़ानेवाले हैं। माथेपर गोरोचनका तिलक शोभित है॥ ५॥ टेढ़ी भौहें हैं, कान सम और सुन्दर हैं। घुँघराले काले बालोंकी छबि छा रही है॥ ६॥ पीली महीन अँगरखी शरीरपर सोह रही है। किलकारी और चितवन मुझे भाती है (भाव कि मुझे देख किलकारी भरा करते थे और फिर मेरी ओर देखने लगते थे। उनका किलकारी भरकर मेरी ओर सानुराग देखना मुझे भाता है)॥ ७॥

नोट—१ '*नीलकंज लोचन भवमोचन।*' इति। अरुणकमलकी उपमा नेत्रोंसे बहुत जगह ग्रन्थमें दी गयी है, यथा—'*अरुन नयन उर बाहु बिसाला।*' (१। २०९), '*सुभग सोन सरसीरुह लोचन*' (१। २१९), '*नवसरोज लोचन रतनारे।*' (१। २३३), इत्यादि। पर यहाँ '*नीलकंज*' की उपमा दी गयी है। ग्रन्थभरमें '*नीलकंज*' की उपमा, जहाँतक स्मरण है, कहीं और नहीं है—'राजीव', 'कमल' या कमलके पर्याय शब्द अवश्य आये हैं। इस भेदको दिखाकर कवि जनाते हैं कि माताने नेत्रोंमें काजल लगाया है, इसीसे वे नीले देख पड़ते हैं। यथा—'*चुपरि उबटि अन्हवाइ कै नयन आँजे रचि रुचि तिलक गोरोचन को कियो है।*'—(गी० १। १०) '*रंजित अंजन कंज बिलोचन भ्राजत भाल तिलक गोरोचन।*' (गी० १। २१) '*राजत नयन मंजु अंजनजुत खंजन कंज मीन मद नाए।*' (गी० १। २९।)'*अंजन रंजित नयन चित चोरैं चितवनि।*' (गी० १। ३०)'*तुलसी*

मनरंजन रंजित अंजन नैन सुखंजन जातक से। सजनी ससिमें समसील उभै नवनील सरोरुहसे बिकसे॥' माताएँ बच्चोंको काजल और डिठौना लगाकर तब बाहर लाती ही हैं। गीतावलीमें बालक रामजीके ध्यानमें नीलकमलकी उपमा बहुत आयी है, यथा—*'नील नलिन दोउ नयन सुहाये।'* (गी० १। २०), *'नील जलज लोचन हरि'* (गी० १। २२) *'लोचन नील सरोज से भ्रूपर मसिबिंदु बिराज।'* (गी० १। १९) पुनः, (ख) *'नीलकंज'* का भाव कि नेत्र कोमल और करुणरसपूर्ण हैं, यथा—*'भ्रू सुंदर करुनारस पूरन लोचन मनहु जुगल जलजाये।'* (गी० १। २३) (ग) *'भवमोचन'* यथा—*'नील जलज लोचन हरि मोचन भय भारी।'* (गी० १। २२) *'राजीव-बिलोचन भवभयमोचन पाहि पाहि सरनहि आई'* (अहल्या)। विशेष (सुं० ४५। ४) में देखिये। तात्पर्य कि जिसकी ओर प्रभु देखते हैं उसका भवबन्धन नाश हो जाता है। (घ) मानसमें बिपत्ति, भय, भवभय आदिके सम्बन्धमें नेत्रोंको राजीव (अरुणकमल) की उपमा प्रायः दी गयी है। यथा—*'राजिव नयन धरें धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥'* (१। १८। १०) *'राजीव बिलोचन भव भय मोचन पाहि पाहि सरनहि आई।'* (१। २११) (अहल्याकृत स्तुति) *'भुज प्रलंब कंजारुन लोचन। स्यामल गात प्रनत भय मोचन॥'* (५। ४५। ४) *'मैं देखउ खलबल दलहि बोले राजिवनैन।'* (६। ६६), *'पाथोद गात सरोज मुख राजीव आयत लोचनं। नित नौमि रामु कृपाल बाहु बिसाल भव भय मोचनं॥'* (३। ३२ छंद १) *'तब निज भुज बल राजिव नैना। ......कपि सेन संग संघारि निसिचर रामु सीतहि आनिहैं॥'* (३। ३०) *'स्याम गात राजीव बिलोचन। दीनबंधु प्रनतारति मोचन॥'* (६। ११४ छन्द) *'नवराजीव नयन जल बाढ़े।'* (७। ५। ८) *'राजीव लोचन स्रवत जल......बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो॥'* (७। ५ छंद) इत्यादि। यहाँ *'नील कंज लोचन भव मोचन'* कहकर जनाया कि शैशवावस्थामें भी वे भवभय हरनेवाले हैं।

२ (क) *'भ्राजत भाल तिलक गोरोचन।'* भाव कि पीला तिलक श्याम माथेपर घनमें स्थित बिजली वा सूर्य-किरणकी शोभा दे रहा है। श्याम ललाटपर पीला तिलक चमचमा रहा है। यथा—*'तिलक ललाट पटल दुति कारी।'* (१। १४७। ४) *'तिलक रेख सोभा जनु चाँकी।'* (१। २१९। ८) *'भाल तिलकु रुचिरता निवासा।'* (१। ३२७। ९) *'भाल बिसाल बिकट भ्रुकुटी बिच तिलक रेख रुचि राजै। मनहु मदन तम तकि मरकत धनु जुगल कनक सर साजै॥'* (गी० ७। १२) *'भ्रुकुटि भाल बिसाल राजत रुचिर कुंकुम रेखु। भ्रमर द्वै रबिकिरनि ल्याए करन जनु उनमेखु॥'* (गी० ७। ९) इत्यादि। गोरोचनके उदाहरण ऊपर आ चुके हैं। (ख)—*'बिकट भृकुटि सम श्रवन सुहाये।'* भौंहका टेढ़ापन उसकी शोभा है; इसीसे भ्रूका वर्णन जहाँ होता है वहाँ उसकी टेढ़ाई वर्णन की जाती है। *'सम'* का भाव कि दोनों ओरकी भौंहें और दोनों कान बराबर हैं; जोड़े—छोटे-बड़े नहीं हैं। भौंहें कानपर्यन्त हैं, इसीसे भृकुटिको कहकर उसके पासके कानको कहा, दूसरे, दोनों सम हैं इससे एक साथ कहा। [बिकट, यथा—*'मुकुर निरखि मुख रामभ्रू गनत गुनहि दै दोष। तुलसी से सठ सेवकहि लखि जनि परहि सरोष॥'* (दो० १८७) *'छबि छाये'*—भाव कि जैसे बादल आकाशपर सघन छाकर फैलकर रस बरसाते हैं वैसे ये केश मुखारविन्दपर शोभा बरसा रहे हैं। (रा० प्र०)] *'कुंचित कच मेचक छबि'* का वर्णन गीतावलीमें इस प्रकार है—*'चिक्कन चिकुरावली मनो षडंघ्रिमंडली, बनी बिसेष गुंजत जनु बालक किलकारी।'* (१। २२), *'भाल बिसाल ललित लटकन बर बाल दसा के चिकुर सोहाए। मनु दोउ गुरु सनि कुज आगे करि ससिहि मिलन तम के गन आए॥'* (१। २३) इत्यादि। गर्भके बाल अभी सिरपर हैं। वे काले, घुँघराले तथा चिकने हैं। यथा—*'चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे॥'* (१। १९९। १०)

३ *'पीत झीनि झगुली तनु सोही'* इति। *'पीत'* और *'झीनि'* होनेसे शोभा दे रही है। झीनि होनेसे भीतरका शरीर सब उसमेंसे झलक रहा है। ऐसी शोभा है मानो मेघपर विद्युच्छटा छायी है। *'सोही'* से जनाया कि छटा अद्भुत है, यथा—*'उपमा एक अभूत भई तब जब जननी पटपीत ओढ़ाये। नील जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाव मनु तड़ित छपाये॥'* (गी० १। २३), *'पियरी झीनी झँगुली साँवरे सरीर खुली*

बालक दामिनि ओढ़ी मानो बारे बारिधर।' (गी० १। ३०) (ख) *'किलकनि चितवनि भावति मोही।'* इन दोका अपनेको भाना कहनेका भाव कि हमारे साथ बालकेलिमें इन दोनोंका विशेष सुख हमको दिया है, इन दोनोंको बहुत देखा है। मुझे पकड़नेको बारंबार किलकारी भरते और बार-बार मेरी ओर देखते हैं। यथा—*'किलकत मोहि धरन जब धावहिं। चलउँ भाजि तब पूप देखावहिं—जाउँ समीप गहन पद फिरि फिरि चितइ पराहिं॥'* पुनः, *'भावति मोही'* से सूचित किया कि ये मेरे मनको हरते और मोहित कर लेते हैं। यथा—*'झुकनि झाँकनि, छाँह सो किलकनि, नटनि हठि लरनि। तोतरी बोलनि बिलोकनि मोहनी मनुहरनि॥'* (गी० १। २५) पुनः, भाव कि वह कही नहीं जा सकती, अकथनीय है, केवल यही कह सकता हूँ कि मुझे भाती है।

☞ यहाँतक यह ध्यान बा० दोहा १९९ के माताके गोद-पलना तथा जानु-पानि-विचरणवाले ध्यानसे विशेष मिलता-जुलता है। इसके आगे *'नृप अजिरबिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी॥'* कुछ और बड़े होनेपरकी क्रीड़ा है। आगे जो क्रीड़ा है वह भुशुण्डिजीसे सम्बन्ध रखनेवाली है। इससे उसका वर्णन यहीं है, बालकाण्डमें नहीं। दोनों ध्यानोंका मिलान यथा—

भुशुण्डि-ध्यान	बालकाण्ड
मरकत मृदुल मनोहर स्यामा।	१ काम कोटि छबि स्याम सरीरा।
अंग अंग प्रति छबि बहु कामा।	नीलकंज बारिद गंभीरा
नवराजीव अरुन मृदु चरना	२ अरुन चरन पंकज
पदज रुचिर नख ससि दुति हरना	३ नख जोती। कमलदलन्हि बैठे जनु मोती
ललित अंक कुलिसादिक चारी	४ रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहै
नूपुर चारु मधुर रवकारी	५ नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहै
कटि किंकिनि कल मुखर सुहाई	६ कटि किंकिनी
रेखा त्रय सुंदर उदर	७ उदर त्रय रेखा
नाभी रुचिर गंभीर	८ नाभि गंभीर जान जिन्ह देखा
उर आयत भ्राजत बिबिध बाल बिभूषन चीर	९ हिय हरिनख अति सोभा रूरी। उर मनिहार पदिककी सोभा
अरुनपानि नख करज मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुन्दर	१० भुज बिसाल भूषन जुत भूरी
दर ग्रीवाँ, चारु चिबुक	११-१२ कंबु कंठ, अति चिबुक सुहाई
आनन छबि सीवाँ	१३ आनन अमित मदन छबि छाई
कलबल बचन, अधर अरुनारे	१४-१५ अति प्रिय मधुर तोतरे बोला, अधर अरुनारे
दुइ दुइ दसन, ललित कपोल	१६-१७ दुइ दुइ दसन अधर अरु नारे, सुचारु कपोला
मनोहर नासा	१८ नासा को बरनै पारा
नीलकंजलोचन भवमोचन	१९ नीलकमल दोउ नयन बिसाला*
भ्राजत भाल तिलक गोरोचन	२० तिलक को बरनै पारा
बिकट भृकुटि, सम श्रवन सुहाये	२१-२२ बिकट भृकुटि, सुंदर श्रवन
कुंचित कच मेचक छबि छाए	२३ लटकन बर भाला।† चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि०
पीत झीनि झगुली तन सोही	२४ पीत झगुलिया तन पहिराई

२५-२६ *'कंध बाल केहरि'* और *'सकल सुखद ससिकर सम हासा'* का मिलान इस स्थानपर नहीं है। दूसरी ठौरसे करते हैं—*'केहरि कंधर बाहु बिसाला', 'केहरि कंधर चारु जनेऊ', 'बिधुकर निकर बिनिंदक हासा।'*

रूपराशि	२७ रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा
नृप अजिर बिहारी	२८ जानु पानि बिचरनि मोहि भाई

* † —यह अंश रामायणका नहीं है।

रूपरासि नृप अजिर बिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी॥ ८॥
मोहि* सन करहि बिबिध बिधि क्रीड़ा। बरनत मोहि होति अति ब्रीड़ा॥ ९॥
किलकत मोहि धरन जब धावहिं। चलौं भागि तब पूप देखावहिं॥ १०॥

अर्थ—राजा दशरथके आँगनमें विचरण वा विहार (बालक्रीड़ा) करनेवाले रूपकी राशि रामचन्द्रजी अपनी परछाहीं देखकर नाचते हैं॥ ८॥ मुझसे भाँति-भाँतिके अनेक बालविनोद करते हैं, जिनका वर्णन करते मुझे अत्यन्त लज्जा लगती है॥ ९॥ जब किलकारी मारते हुए पकड़ने दौड़ते और मैं (पक्षिभावसे) भाग चलता तब मुझे पूआ† दिखाते (कि आ, ले आकर पूएका लोभ दिखाते)॥ १०॥

करु०—'रूपराशि' कहनेका भाव यह है कि प्रभुकी जो शोभा ऊपर कही वह तो अनुपम है, मन-वाणीसे परे है, उसका वर्णन तो हो ही नहीं सकता, अतः केवल पदार्थोंकी और उनके प्रतिबिंबकी शोभा कहते हैं।

नोट—१ (क) ***'रूपरासि'*** इति। भाव कि रूपका वर्णन हो नहीं सकता। यथा—***'अनुपम बालक देखेन्हि जाई। रूप रासि गुन कहि न सिराइ॥'*** (१। १९३) ***'अंग अंग पर मार निकर मिलि छबि समूह लै लै जनु छाए। तुलसिदास रघुनाथरूप गुन तौ कहौं जो बिधि होहिं बनाए॥'*** (गी० २३) पुनः, 'रूपराशि' का भाव कि प्रभु सौन्दर्यनिधान हैं, इन्हींकी सुन्दरताकी राशिके इधर-उधर छिटके दानोंसे वह सारी शोभा है, जो जगत्‌में देख पड़ती है। यथा—***'सुखमा सुरभि सिंगार छीर दुहि मयन अमियमय कियो है दही री। मथि माखन सियराम सँवारे सकल भुवन छबि मनहुँ मही री। तुलसिदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जाति कही री। रूपरासि बिरची बिरंचि मनो सिला लवनि रतिकाम लही री॥'*** (गी० १। १०६) (ख) ***'नृप अजिर बिहारी।'*** यथा—***'मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवउ सो दशरथ अजिर बिहारी॥'***

☞ माताको सुख देनेवाले ध्यानका वर्णन यहाँतक हुआ। ***'बिचरत अजिर जननि सुखदाई।'*** (७६। ४) उपक्रम है और ***'नृप अजिर बिहारी'*** उपसंहार है। (ग)—***'नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी'*** यथा—***'कबहूँ करताल बजाइ के नाचत।'*** (क० १। ४) सत्योपाख्यान अध्याय २५। १४-२४ में प्रतिबिम्बवाली क्रीड़ा देखने योग्य है।‡ आँगन मणिरचित है, बकैयाँ चलनेमें उसमें अपना प्रतिबिम्ब देख पड़ता है, यथा—***'लसत कर प्रतिबिंब मनि आँगन घुटुरुवनि चरनि।'*** (गी० २७) पुनः, जब मणिखम्भोंमें खड़े होकर देखते हैं तो उसमें भी अपना-सा दूसरा बालक देख पड़ता है, उसे देख नाचने लगते हैं और प्रतिबिम्बको नाचते हुए देख और भी नाचते हैं। यथा—***'गहि मनिखंभ डिंभ डग डोलत।——किलकत झुकि झाँकत प्रतिबिंबनि। देत परम सुख पितु अरु अंबनि॥'*** (गी० १। २८) ***'इकटक प्रतिबिंब निरखि पुलकत हरि हरषि हरषि।'*** (गी० १। २२)

---

* 'मोसन', 'बरनत चरित होत मोहि ब्रीडा'—(का०)।

† वैं०—पूप सर्वथा मालपूवाको कहते हैं। और अमरमें ऐसा लिखा है कि 'पूपोऽपूपः पिष्टकः स्यात्' जिसपर अमरविवेक टीकाकार महेश्वरने यह लिखा है कि 'पूपः अपूपः पिष्टकः त्रीणितं दुलपिष्टरा च तस्य भक्ष्यभेदः।' इससे सूचित होता है कि पूप भूजे चौरेठामें मेवाघृतमिश्रीयुत मोदक है।

‡ 'आदर्शे क्वचिदात्मानं पश्यन्तश्चात्मनो मुखम्॥ १४॥ बालकं च द्वितीयं हि मत्वा स्पृशति पाणिना। अलब्ध्वा तस्य चाङ्गानि रोदनं कुरुते पुनः॥ १५॥ क्वचिच्च वदनं रम्यं स्तम्भेषु प्रतिबिम्बितम्। शुभगै रत्नयुक्तेषु बालकैरावृतं सुखम्॥ १६॥ द्वितीयं बालकं मत्वा हास्यं च कुरुते प्रभुः। शत्रुघ्नो जानुपाणिभ्यां रिंगन्भूमौ निजं मुखम्॥ १७॥ प्रतिबिंबितमालोक्य मत्वा बालं द्वितीयकम्। तस्यानने स्वं संयोज्य चोच्चैः कूजति तत्रहा॥ १८॥ मातुरङ्कं समायाति प्रहसन् लक्ष्मणानुजः। लक्ष्मणोऽपि निजं बिम्बं दृष्ट्वा हुं कुरुते मुहुः॥ १९॥ भरतोऽपि निजं बिम्बं रत्नपृथ्व्यां हि भाषितम्। हास्यं च कुरुते मन्दं मन्दं मन्दं पुनः पुनः॥ २०॥ जलपात्रे तु रामेण चन्द्रबिम्बं विलोकितम्। ग्रहणे तस्य हस्तं तु जले तु कुरुते प्रभुः॥ २१॥ न चायाति यदा हस्ते मातरं याचते तु तत्। चषकं स्वल्पकं माता रौप्यं रत्नैश्च संयुतम्॥ २२॥ नीरे निधाय रामस्य परोक्षेण सकौतुका। रामाय ब्रुवति क्षिप्रं गृह्यतां चन्द्रमण्डलम्॥ २३॥ इमाश्च तारकाः पुत्र रत्नरूपा न संशयः। सर्वं गृहाण भो राम भ्रातृभिः क्रीडनं कुरु॥'

रा० प्र०—इस क्रीड़ासे प्रभु उपदेश देते हैं कि असलमें प्रतिबिम्ब हमारे नाचसे नाचता है, हम उसे नचाते हैं—*'निज प्रतिबिंब जगत बिनु जाने जीव भयो संसारी। चौरासी में परि नाचत अस उपदेसत छबिधारी॥ २॥ बालपनासे दूसर भासा अपनो रूप बिसारी। यहि प्रकार जग नाच देखायो यद्यपि हैं भ्रमहारी॥ ३॥ प्रतिबिंबहि को राम नचावत आपन नचत खेलारी। देवदृष्टि बिनु को लखि सकिहै अचल राम पद भारी॥'*

''बरनत मोहि होति अति ब्रीड़ा'' इति।

लज्जा क्यों होती है? इसका समाधान एक तो वे स्वयं करते हैं कि प्राकृत बालककी तरहके चरित सच्चिदानन्द परात्पर परब्रह्ममें दिखानेमें लज्जा लगती है कि लोग क्या कहेंगे, जैसे मैंने स्वयं मनमें सोचा था—*'कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद संदोह।'* चिदानन्दघन प्रभुके योग्य ये चरित नहीं हैं, यह समझकर कहनेमें सङ्कोच होता है। *'भृकुटि भंग जो कालहि खाई। ताहि कि सोहइ ऐसि लराई॥'* (लं० ६५। २) *'जब रघुनाथ कीन्हि रनक्रीड़ा। समुझत चरित होति मोहि ब्रीड़ा॥'* (५८। ३) इस शिववाक्य और भुशुण्डि-वाक्यमें भेद इतना ही है कि उन्हें *'समुझत'* लज्जा होती है और इन्हें *'बरनत'*। इस भेदका भाव यह है कि वहाँ चरित कह चुके हैं, न कहते तो एक चरित रह ही जाता, बिना कहे रामचरित पूरा न होता। वह रणक्रीड़ा रावणवध-चरित्रका अङ्ग है, इससे उसका कहना आवश्यक था अत: कहा। कहनेमें लज्जा न लगी, क्योंकि सभी कहते आये हैं। पर उसे विचारते हैं तब लज्जा लगती है। और यहाँ जो चरित है वह रहस्य है, इसे कहना जरूरी नहीं है, पर अधिकारीको पाकर कहना पड़ा। अत: यहाँ *'बरनत'* कहा। पुन:, शिवजी अपने सम्बन्धमें *'ब्रीड़ा'* और भुशुण्डिजी अपने सम्बन्धमें *'अति ब्रीड़ा'* होना कहते हैं, कारण कि यहाँ सब बालचरित 'अतिशय' एवं अतिशैशवके किये हैं और वहाँ एक ही चरित्र है, वह भी अतिशय नहीं। यहाँ यह क्रीड़ा स्वयं वक्ताके साथ हुई और वहाँ दूसरेके साथ।

पुन:, दूसरा समाधान *'बरनत'* में लज्जाका यह है कि भगवान् पकड़नेको मुझे दौड़ते, हाथ फैलाते और मैं मूर्ख उनसे भागता था, यह लज्जाकी बात थी। जिनकी प्राप्तिके लिये लोग अनेक प्रयत्न करते हैं, वे स्वयं मुझे प्राप्त होते हैं और मैं अज्ञानी उनसे दूर भागता था।

वि० त्रि०—सरकारकी क्रीड़ा ही ऐसी होती है कि आप एकदम तद्रूप हो जाते हैं, अपने स्वरूपका कुछ भी विचार नहीं रखते। जो उनके स्वरूपको जानता है, उस दृश्यके ध्यानमें लानेमें ब्रीड़ा होती है। यथा—*'जब रघुनाथ कीन्ह रन क्रीड़ा। समुझत चरित होत मोहि ब्रीड़ा॥'* और वर्णन करनेवालेको तो अति ब्रीड़ा होती है कि किसके लिये मैं क्या कह रहा हूँ। आगे चलकर उदाहरण दे रहे हैं।

वै०—लज्जा कि पूर्वसे ही मैं प्रभाव जानता था, बहुत काल सङ्ग रहा, तब भी माधुर्य देख भुलावेमें पड़ गया। [७८ (२-३) देखो]

पं०—लज्जा इससे कि वे तो परमात्मा ईश्वर हैं, वे जो करें उन्हें सब फबता है, पर अरे मूढ़ मन! तू क्या करता था।

नोट—*'बरनत चरित—'* कहकर आगे वह चरित बताते हैं—*'किलकत मोहि धरन जब धावहिं'*, यथा—*'राजमराल बिराजत बिहरत जे हर हृदय-तड़ाग। ते नृपअजिर जानु कर धावत धरन चटक चल काग।'* (गी० १। २६) *'किलकत—पूप देखावहिं'* पर विशेष आगे ७८ (१—३) में गौड़जीके टिप्पण देखिये।

दो०—आवत निकट हसहिं प्रभु भाजत रुदन कराहिं।
जाउँ समीप गहन पद फिरि फिरि चितइ पराहिं॥
प्राकृत सिसु इव लीला देखि भएउ मोहि मोह।
कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद संदोह॥ ७७॥

अर्थ—समीप आनेपर प्रभु हँसते थे, भागनेपर रोते थे और (जब रोनेपर उनके) चरण पकड़नेके

लिये पास जाता था तब (पीछे मेरी ओर) फिर-फिरकर देखते हुए भागते थे (अर्थात् भागते थे मानो मेरे पास जानेसे भय खाते हैं। फिर पीछे घूम-घूमकर देखते कि मैं पीछे आता हूँ कि नहीं, फिर भागते, फिर घूमकर देखते इत्यादि)। साधारण बच्चोंके समान चरित देखकर मुझे मोह हुआ कि चित्-आनन्द-घन प्रभु यह कौन चरित करते हैं?॥ ७७॥

रा० प्र० १—*'चितइ पराहिं'* अर्थात् भयभाव प्रकट करते हैं। इस चरितसे यह दर्शित किया कि आत्मा प्रभु-सम्मुख होनेसे ही प्रसन्न होता है और बहिर्मुख होनेसे उसकी दशापर रोने योग्य चेष्टा दिखाता है और यह भी लखाता है कि अधिकारी होनेमें अभी कच्चापन है।

नोट—१ (क)—*'हँसहिं प्रभु'* से जनाया कि पास रहनेसे प्रसन्न रहते हैं। *'भाजत रुदन कराहिं'* अर्थात् भाग जानेसे रोते थे। भाव कि मुझे अपना खेलका खिलौना वा अपने साथका खेलनेवाला समझते थे; इसीसे भाग जानेसे रोते थे। जैसे प्राकृत बालक माता आदिसे कहते हैं कि यह चिड़िया पकड़ दो हम साथ खेलेंगे और न मिलनेसे रोते हैं। पुनः, (ख) *'भाजत रुदन कराहिं'* का भाव कि प्रथम पूप दिखाते हैं। जो मैं आ गया तो प्रसन्न होते हैं और जो पूप दिखानेपर न आया तब बुलानेका दूसरा उपाय यह करते हैं कि रोने लगते थे। जिसमें मुझे तरस आवे अथवा कोई और पकड़ ला दे। *'पराहिं'*—भयसे कि काट न खाय।—[पं०—भागते कि चरणोंमें चोंच न मारे और फिर-फिर इससे देखते कि उदास होकर चला न जाय।]

२—*'प्राकृत सिसु इव लीला……'* इति। पकड़ने दौड़ना, भागनेपर पूआ दिखाकर बुलाना, पास आनेपर हँसना, भागनेपर रोना; चरणके स्पर्शके लिये आते देख डरकर स्वयं भागना इत्यादि चरितसे मोह हो गया कि ये सच्चिदानन्दघन हैं तब ऐसा चरित तो इनका न होना चाहिये। [पं०—तत्त्व यह कि कहीं जीव विषे तो मुझे ईश्वरबुद्धि नहीं हो रही है, चिदानन्दसन्दोहमें तो ऐसी क्रीड़ा हो नहीं सकती।]

☞ मिलान कीजिये—**'रामं शष्कुलिहस्तं च खादन्तं च पुनः पुनः। तं दृष्ट्वा बालकं काक इति संदिग्धमानसः॥ कथमेष परब्रह्म वेदेन परिगीयते।'** (सत्य० २६। २-३) अर्थात् बालक रामचन्द्रजीको पूरी-पूवा-पक्वान्न हाथमें लेकर खाते हुए बारम्बार देखकर काकको मोह हुआ कि जिन्हें वेद परब्रह्म कहते हैं वे यह क्या करते हैं। इसके बाद सत्योपाख्यानमें यह भी कहा है कि भुशुण्डिजीके मनमें आया कि यदि वे विश्वम्भर राम हैं तो मुझे अपनी शक्ति दिखावें और ऐसा मनमें लाकर उनके हाथसे शष्कुली छीनकर उड़े कि देखें राम क्या करते हैं।—**'यदा विश्वम्भरो रामः शक्तिर्मे दर्शयिष्यति॥ ३॥ इति निश्चित्य मनसा रामहस्ताच्च शष्कुलीम्। आकृष्य रभसोड्डीनो रामो मे किं करिष्यति'**॥ ४॥ यह बात सर्वात्माने जान ली।

३ ☞ यहाँ गरुड़जीको दिखाते हैं कि आपका-सा मोह मुझे हुआ था। आपको संदेह हुआ कि *'चिदानंद संदोह राम बिकल कारन कवन'* और मुझे भी संदेह हुआ कि *'कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद संदोह।'* पुनः, इससे ज्ञात होता है कि भुशुण्डिजीको *'चिदानंद संदोह'* के चरितके ज्ञानका कुछ अभिमान हो आया, इसीसे यह तर्क उठा।

वै०—*'जाउँ समीप गहन पद।'* अति माधुर्य-चरित देखकर उससे अपने बचावके लिये ऐश्वर्य विचार पैर छूने वा पकड़ने जाऊँ तब वे देख-देख और भागें, ऐसा माधुर्य प्रकट करने लगे, उसमें ऐश्वर्यकी छींटमात्र भी न आ सके।

हरिमाया जिमि भुसुंडि नचावा

एतना मन आनत खगराया। रघुपति प्रेरित ब्यापी माया॥ १॥
सो माया न दुखद मोहि काहीं। आन जीव इव संसृत नाहीं॥ २॥
नाथ इहाँ कछु कारन आना। सुनहु सो सावधान हरिजाना॥ ३॥

शब्दार्थ—**'काहीं'**=(सं० कथं) को, के लिये। (तुलसी-शब्दसा०)

अर्थ—हे पक्षिराज! मनमें इतना (संदेह) लाते ही श्रीरघुनाथजीकी प्रेरणासे मुझे माया ब्याप गयी॥ १॥ (पर) वह माया मुझको दुःखदायी न हुई और न अन्य जीवोंकी तरह संसारमें डालनेवाली हुई॥ २॥ हे

नाथ! यहाँ कुछ और ही कारण है। हे हरिवाहन गरुड़जी! उसे सावधान हो सुनो॥ ३॥

नोट—१ *'एतना मन आनत—'* इति। (क) भक्तके मनमें जब किञ्चित् भी अभिमान अथवा संदेह उत्पन्न होता है, तभी प्रभुकी प्रेरणासे माया व्यापती है। नारदको गर्व हुआ, गरुड़जीको अभिमान एवं संदेह हुआ और भुशुण्डिजीको भी (सत्योपाख्यानके मतसे) अभिमान एवं संदेह हुआ। अतः *'एतना मन आनत'* कहकर तब मायाका प्रेरित किया जाना कहा। (ख) *'रघुपति प्रेरित'* का भाव कि भक्तके पास माया अपनेसे जाते डरती है। यथा—*'भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥ रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥'* (११६। ५-७) और भुशुण्डिजीका गुरु लोमशजीका वरदान है कि *'राम भगति अबिरल उर तोरें। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरें॥'* (११३। १६) अतएव विधि-हरिहरकी मायाको कौन कहे, श्रीरामकी माया भी अपनेसे पास न जा सकती थी। अतएव *'रघुपति प्रेरित'* कहा, अर्थात् श्रीरघुनाथजीकी प्रेरणासे वह उनको व्यापी।

देखिये, इन्द्रादि देवताओंकी माया तो श्रीभरत, श्रीजनक, मुनिगण आदिको नहीं लगी थी। यथा—*'भरत जनक मुनि जन सचिव साधु सचेत बिहाइ। लागि देवमाया सबहि जथाजोगु जनु पाइ॥'* (२। ३०२) और, सरस्वतीजीने तो भरतजीके सम्बन्धमें कहा ही है कि *'बिधि हरिहर माया बड़ि भारी। सोउ न भरत मति सकइ निहारी॥'* (२। २९५। ५)

वै०—*'न दुखद मोहि काहीं'* अर्थात् मुझे देखनेमात्र भय रहा।

नोट—२ *'सो माया न दुखद मोहि काहीं'* का भाव कि (क) औरोंको दुःखद हुई है, जैसे कि नारदजीको, यथा—*'श्रीपति निज माया तब प्रेरी। सुनहु कठिन करनी तेहि केरी॥'* (१। १२९) उनके साथ उसी मायाकी करनी कठिन हुई (कठिन करनीका वर्णन प्रकरणभर है), पर मुझे प्रभुकी कृपासे वह दुःखद न हुई। मार्कण्डेयजीको भी दुःख हुआ था, कभी उनको मत्स्यने खाया, कभी इधर गिरे, कभी उधर। भागवतमें कथा स्पष्ट है। (२। २८६। ५-८) देखिये। पुनः, (ख) श्रीपति आदिकी माया दुःखद है। नारदको श्रीपति क्षीरशायी भगवान्‌की माया लगी थी और यह माया रघुनाथजीकी प्रेरित है। (ग) और कारण दुःखद न होनेका आगे भुशुण्डिजी स्वयं कहते हैं।

३ *'आन जीव इव संसृत नाहीं'* इति। माया संसारमें डालती है, यथा—*'तव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अगजग हरे। भवपंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥'* वेदस्तुति (दोहा १३ छन्द) इसीसे कहा कि यह प्रभुकी माया *'मोहि काहीं……संसृति नाहीं'*। *'आन जीव इव'* का भाव कि अन्य जीव संसारमें पुनः गिरते-पड़ते हैं।

पां०—*'सुनहु सो सावधान'* इति। सावधान करनेका भाव कि यहाँ उपासनाकी विशेषता और ज्ञानकी सामान्यता है।

रा० प्र०—सावधान होनेके हेतु बारम्बार 'सुनु', 'सुनहु' कहते हैं।

पं०—'सावधान' का भाव कि यह सूक्ष्म सिद्धान्त है। **'हरिजान'** का भाव कि तुम ईश्वरमहिमाश्रवणके अधिकारी हो।

रा० प्र०—*'हरिजान'* विशेषणका भाव कि ईश्वरज्ञान प्रायः धर्मारूढ़ ही होनेपर होता है।

गौड़जी—भगवान्‌के हास्यमें माया है। यद्यपि कागभुशुण्डिजीको भगवान्‌की माया साधारणतया नहीं सताती, कष्ट नहीं देती, परन्तु वह ऐसी प्रबला है कि *'सिव बिरंचि कहँ मोहई को है बपुरा आन।'* काकभुशुण्डिको माया चक्करमें डाल देती है—*'सो माया न दुखद मोहि काहीं। आन जीव इव संसृत नाहीं॥'* यहाँ भगवान्‌की लीला देखनेमें तो बड़ी ओछी-सी लगती है पर है बड़ी गम्भीर। ईश्वर, जीव और मायाका सहज और अद्भुत खेल है। हास और रुदनके रूपमें माया बीचमें आ पड़ी है। ईश्वर जब जीवको अपने निकट खींचनेकी क्रीड़ा करता है तब जीव उससे विमुख होकर भाग खड़ा होता है, ब्रह्मकी ओरसे मुँह फेरकर मिथ्या जगत्‌की ओर दौड़ता है—*'चलउँ भाजि तब पूप देखावहिं।'* 'पूप' उस आनन्दका घनरूप है, जो भगवान्‌के हाथमें है; जिसकी

कल्पनामात्रका जगत्‌में आरोप करके जीव संसाराभिमुख होता है। जीव बड़ा काइयाँ है, काक-सा चञ्चल है। जब भगवान् उसे भागते देखते हैं तब पूप दिखाते हैं। भाव यह कि आनन्दघन तो यह मेरे हाथोंमें है तू किसके लिये भागा जा रहा है, आगे चलकर काकभुशुण्डि कितना ही भागते हैं, पर भगवान्‌का हाथ उनके पास ही होता है। इसमें यह भाव है कि अपनी प्रतिज्ञा '**न मे भक्तः प्रणश्यति**' भगवान् कभी नहीं भूलते। इस तरह इस लीलामें जीव और ईश्वरके सांनिध्यका और भगवान्‌की भक्तवत्सलताका भाव भरा हुआ है। इस चरितको जब काकभुशुण्डिजी समझते हैं तो उन्हें बहुत लज्जा आती है कि जो अवसर कि गोदमें जाकर खेलनेका था उसे मैं खो बैठा, यह कैसी लज्जाकी बात है कि जिस सामीप्यके लिये मैं अपने इष्टदेवके चरणोंके पास जाया करता हूँ, उसीसे मैं अनेक कल्पोंतक भागता फिरा।—'**हरेरिच्छा बलीयसी**।' अन्तको बरबस उनके करकमलोंमें नहीं तो मुखके भीतर प्रवेश करना ही पड़ा।

काकभुशुण्डिजीको उस समय अचरज-सा हुआ कि जो चेतना और आनन्दका घनस्वरूप है वह साधारण बच्चोंकी-सी ही लीला करता है, इसमें चित्‌की या आनन्दकी कौन-सी घनता है। इस तरहके विचारमें काकभुशुण्डिको भगवान्‌के ऐश्वर्यके ज्ञानका कुछ छिपा हुआ घमण्ड भी था, इसी कारण उस माधुर्य-लीलाका अगम्य भेद उन्हें समझमें न आया। इसी कारण उन्हें अनेक कल्पोंतक अनेक ब्रह्माण्डोंमें चक्कर लगाते रहनेकी दलेल बोली गयी।

ज्ञान अखंड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर॥ ४॥
जौं सब के रह ज्ञान एकरस। ईश्वर* जीवहिं भेद कहहु कस॥ ५॥

अर्थ—केवल एक श्रीसीतापति रामचन्द्रजी ही अखण्ड ज्ञान हैं और जड़-चेतनसहित जितने भी जीव हैं वे (सब) मायाके वश हैं॥ ४॥ यदि सब जीवोंका एक-सा अखण्ड ज्ञान रहे तो कहिये कि ईश्वर और जीवमें भेद कैसा?॥ ५॥

नोट—१ *'ज्ञान अखंड एक सीताबर'* और फिर *'ज्ञान एकरस'* कहकर जनाया कि 'अखण्ड ज्ञान'=एकरस ज्ञान; और यह कि *'एक'* प्रभुका ही ज्ञान अखण्ड एकरस होता है, जीवका ज्ञान एकरस नहीं वरन् मायाके कारण खण्डित ही रहता है। यह भेद सदा बना रहता है।

'माया बस्य जीव'—'ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ सो माया बस भएउ गोसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं॥' (११७। २-३) सचराचर, यथा—*'जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे॥'* (१। २००। ४)

गौड़जी—*'ज्ञान अखंड—'* इति। यहाँ भुशुण्डिजी इस बातकी कैफियत देते हैं कि भगवान्‌के इतने चुने हुए भक्त जिनका कल्पान्तोंमें भी नाश नहीं होता, जो सृष्टि, पालन और प्रलयके बखेड़ोंसे बचे हुए निरन्तर भगवद्भजनमें लीन रहते हैं, उन्हें माया कैसे सताने लगी (वे कहते हैं कि सब कुछ होते हुए भी जीवमात्र मायाके वश हैं और इसीलिये मोह या अज्ञानसे बच नहीं सकते। एकमात्र सीतावर ही अखण्ड ज्ञान है क्योंकि वे सीतावर हैं। सीता, जिनके अंशसे अनन्तकोटि उमा, रमा, ब्रह्माणी होती हैं और अखिल विश्वकी रचयिता माया जिनकी छायामात्र है, ऐसी सीताके पति ही अखण्ड ज्ञान हो सकते हैं। वही मायापति हैं और ईश हैं। सचराचर जीव मायाके अधीन हैं। जीवमें ईशकी तरह ज्ञान होना असम्भव है। यदि सबमें एकरस ज्ञान रहे तो ईश्वर और जीवमें अन्तर ही क्या है (देहमें अभिमान रखनेवाला जीव मायाके वश है और माया जो सत्त्व, रज, तमकी खानि है वह स्वयं ईशके वशमें है। इस तरह जीव परवश है और ईश्वर स्ववश है। मायापति एक हैं, जीव अनेक हैं।-मायाने यद्यपि जो भेद रच रखे हैं वे झूठे हैं तथापि भगवान्‌के बिना मिट नहीं सकते—*'रजत सीप महँ भास जिमि यथा भानु कर बारि। जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥'* (बा० ११७)

* ईश्वर—भा० दा०। पर हरताल है।

नोट—२ *'भेद कहहु कस'* इति। भाव कि जीव भी चेतन और ईश्वर भी, भेद इतना ही है कि जीवका ज्ञान अखण्ड एकरस नहीं है और ईश्वर अखण्ड ज्ञानवाला है। जब जीवमें भी एकरस ज्ञान हो तब भेद कैसा? भाव कि एकरस ज्ञान होता तो ईश्वर और जीव ये दो संज्ञाएँ ही न होतीं। उसकी भी ईश्वर ही संज्ञा होती, जीव क्यों होता।

३—करुणासिंधुजी आदि—*'भेद कहहु कस'* को प्रश्नात्मक मानते हैं और यों अर्थ करते हैं कि 'जो कोई जीवका ज्ञान एकरस है तो जीवसे और ईश्वरसे कहो (कि) कैसे भेद है'। वे लिखते हैं कि एकरस ज्ञान होनेपर भी जीव और ईश्वरमें भेद बना ही रहता है। जैस कि भरतादि जो नित्य पार्षद हैं और एकरसस्वरूपमें स्थित हैं, पर अपर स्वरूप श्रीरामजीके सेवक हैं। एकरस ज्ञान होनेपर भी जीवधर्म तब भी बना रहता है, यथा—*'हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव धरम अहमिति अभिमाना॥'* यह जीव धर्म शरीरके रहते नहीं जा सकता।

वि० त्रि०—इस विषयको भगवान् शाण्डिल्यने अपने भक्तिसूत्रके तैंतीसवें सूत्रसे बहुत स्पष्ट कर दिया है। यथा—**'न च क्लिष्टः परः स्यादनन्तरविशेषात्'** ब्रह्म और जीवकी एकता माननेपर भी जीवोपाधिधारी आत्माके जो क्लेशादि हैं, वे परमेश्वरका स्पर्श नहीं कर सकते; क्योंकि चिदंशनिर्णयके पश्चात् भी क्लेश आदिका सम्बन्ध जीवात्मासे ही है और यही परमात्मासे जीवका अन्तर सिद्ध करता है, ऐसा निश्चय हो सकता है।

मा० म०—*'ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस'* तो ईश्वर और जीवमें भेद ही क्या रहा? इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर और जीवमें भेद है। आगे चलकर कहते हैं कि यह भेद मायाकृत है—*'मुधा भेद जद्यपि कृत माया'*; इससे मायाका होना भी प्रतिपादित हुआ। पर इन तीनोंका यथार्थ स्वरूप जानना दुर्गम है। अरण्यकाण्डमें जो *'माया ईस न आपु कहँ जान कहिअ सो जीव'* कहा है, उसीकी प्रकाशक यह चौपाई है। जैसे वहाँ तीनों प्रतिपादित हैं वैसे ही यहाँ भी प्रतिपादित हैं।

नोट—४ यहाँ यह कहकर कि अखण्ड ज्ञान होता तो भेद ही न होता, आगे बताते हैं कि अखण्ड ज्ञान न हो सकनेका कारण है और वह यह है कि *'माया बस्य जीव अभिमानी।—'* इत्यादि।

मायाबस्य जीव अभिमानी। ईसबस्य माया गुनखानी॥ ६॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥ ७॥
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥ ८॥

अर्थ—मायावश होनेसे जीव अभिमानी होता है (वा, अभिमानी जीव मायावश है) और ईश्वरवश होनेसे माया गुणखानि है (वा सत्त्व, रज, तम गुणोंकी खानि माया ईश्वरके वश है)॥ ६॥ जीव पराधीन (मायाके अधीन) है और भगवान् स्वतन्त्र हैं (किसीके वश नहीं हैं)। श्रीपति एक हैं और जीव अनेक है। यद्यपि मायाकृत भेद असत्य है (वा, मिथ्या भेद यद्यपि मायाकृत है) तो भी बिना भगवान् (की कृपा) के करोड़ों उपाय करनेसे भी नहीं जा सकता॥ ७-८॥

नोट—१ **'मायाबस्य—ईसबस्य माया गुनखानी'** अर्थात् माया ईश्वरके वश है, जैसी प्रेरणा ईश्वर करता है वैसा ही वह करती है। उसका कुछ अपना बल नहीं है और संसार रचनेवाले त्रिगुण मायाके वश हैं, जिससे वह सब प्रपंच रचती है, यथा—*'एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥'* (आ० १५। ६) *'सो हरि माया सब गुन खानी।'* (१। १३०। ५) सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिके हैं। प्रकृतिके इन गुणोंद्वारा ही सब कर्म होते हैं। यथा—**'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।'** (गीता ३। २७) जो 'अहंका विषय नहीं है उस प्रकृतिमें 'मैंपन' का अभिमान कर लेना अहंकार है। इसीसे *'मायाबस्य जीव अभिमानी'* कहा। भाव कि अहंकारके कारण वह आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानता, इसीसे प्रकृतिके सत्त्वादि गुणोंद्वारा उन्हींके अनुरूप किये गये कर्मोंमें 'मैं करनेवाला हूँ' ऐसा मान लेता है। यथा—**'अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।'** (गीता ३। २७)—*'गुनकृत सन्यपात*

नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही॥' (७१। १) भी देखिये। अहंकार आनेपर ही माया लगती है। यथा—*'चले हृदय अहमिति अधिकाई। श्रीपति निज माया तब प्रेरी॥'* (१। १२९। ७-८)

पं०—*'पर बस जीव'* इति। अर्थात् जीव ईश्वराधीन है। यथा—*'उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं॥'* (४। ११। ७) *'नट मरकट इव सबहि नचावत। राम खगेस बेद अस गावत॥'* (४। ७। २४) *'जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ।'* (१। १२४) *'ईस अधीन जीव गति जानी।'* (२। २६३) ईश्वर जैसा चाहता है वैसा ही कर्म जीव करता है। जिसे वह उत्तम लोक प्राप्त कराना चाहता है, उससे उत्तम कर्म कराता है और जिसे नरकगामी बनाना चाहता है, उससे अशुभ कर्म करवाता है। यथा—**'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमन्वानुनेषत्येष एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो नुनुत्सत।'** (कौषीतकि ब्रा० ३। ९)

नोट—२ इसपर यह शंका होती है कि तब तो विषमसृष्टि आदि कर्म निर्दयतादि दोषोंकी उत्पत्ति कराकर भगवान्‌को बाँधते होंगे? इसका समाधान यह है कि वे कर्म ईश्वरको नहीं बाँधते, क्योंकि जीवोंके पूर्वकृत कर्मोंहीके अनुसार वे यह सब करते हैं और स्वयं आसक्तिरहित उदासीनकी भाँति उनमें स्थित रहते हैं। यथा—**'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय। उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥'** (गीता ९। ९) *'सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता।'* (४१। ५) भगवान् व्यासने भी यही कहा है कि ईश्वरमें विषमता और निर्दयताका दोष नहीं है, क्योंकि सृष्टिरचना कर्मसापेक्ष है—**'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्।'** (ब्र० सू० २। १। ३४) भगवान् तो केवल निमित्तकारण हैं, प्रधान कारण तो जीवोंकी प्राचीन कर्म-शक्तियाँ ही हैं। इसीसे भगवान्‌ने कहा है—**'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।'**

पंजाबीजीने *'परबस'* से ईश्वराधीन अर्थ ग्रहण किया। 'पर' से मायावश, कर्मोंके वश अर्थ अधिक संगत होगा, क्योंकि मायाबस्यका प्रसंग चल रहा है। यथा—*'सो माया बस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं।'* (११७। ३), *'मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया॥'* (३। १५। २), *'जीव करम बस सुख दुख भागी।'* (२। १२। ४), **'यन्मायावशवर्त्तिविश्वमखिलं……'**, *'तेहि ईस की हौं सरन जाकी बिषम माया गुनमई। जेहि किये जीव निकाय बस……॥'* (वि० १३६)

३ *'स्वबस भगवंता'* इति। भाव कि उनके लिये कोई रोक-टोक नहीं कि वे ऐसा न करें अथवा वैसा न करें। उनकी इच्छाका बाध नहीं है। यथा—*'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावै मनहि करहु तुम्ह सोई॥'* (१। १३७। १), *'निज तंत्र नित रघुकुलमनी।'*, (१। ५१ छंद) इसमें कौषीतकि ब्रा० उ० के **'न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कर्मणा कनीयान्।'** (३। ९) का भाव भी आ जाता है कि वह न तो अच्छे कर्मसे बढ़ता है और न खोटे कर्मसे छोटा ही होता है। भले-बुरे कर्म करनेपर भी वह निर्दोष ही है। यह बात नारदजीने भी कही है—*'कर्म सुभासुभ तुम्हहि न बाधा।'* (१। १३७)

पुनः, **'परबस जीव'** के साथ *'स्वबस भगवंता'* कहकर श्वेताश्वतरकी, **'स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति। क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः॥'** (५। १२) (जीवात्मा अपने कर्मोंके संस्काररूप गुणोंसे तथा शरीरके गुणोंसे युक्त होनेके कारण अहंता-ममता आदि अपने गुणोंके वशीभूत होकर स्थूल और सूक्ष्म बहुत-से रूपों (शरीरों) को स्वीकार करता है, उनके संयोगका कारण दूसरा भी देखा गया है), इस श्रुतिका भाव भी जना दिया है। भाव यह है कि जीवात्मा अपने किये हुए कर्मोंके संस्कारोंसे शरीरके धर्मोंसे अहंता-ममता करके तद्रूप हो जानेके कारण नाना प्रकारकी भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेता है। परंतु इस प्रकार जन्म लेनेमें वह स्वतन्त्र नहीं है। उसके संकल्प और कर्मोंके अनुसार उन-उन योनियोंसे इसका सम्बन्ध जोड़नेवाला कोई दूसरा है और वह है परमदेव परमेश्वर, जिसका वर्णन श्रुति १। ५ में किया गया है। यथा—**'विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः।'** १। (जो विद्या और अविद्या, चर अचर, दोनोंसे सर्वथा भिन्न है तथा दोनोंपर शासन करता है), **'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः।'**२। (जो समस्त योनियों तथा उनमें जो भिन्न-भिन्न रूप और उनके जो

कारण हैं—इन सबोंपर आधिपत्य रखता है। अर्थात् ये सब जिसके अधीन हैं), **'स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः। ४।'** (भक्ति करने योग्य वे परमेश्वर अकेले ही समस्त कारणरूप अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियोंके अधिष्ठाता होकर उन सबको यथायोग्य कार्यमें प्रवृत्त करते हैं), **'गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद् यः।'** ५। (जो समस्त गुणोंका जीवोंके साथ यथायोग्य संयोग कराता है)—श्रुति १—५ के भाव ***'स्वबस'*** शब्दमें आ जाते हैं।

पुनः परवश और स्ववश कहकर जनाया कि जीव कर्मवश होनेके कारण स्वेच्छापूर्वक अपने शरीरका प्रयोग वा नियन्त्रण किसी कालमें नहीं भी कर सकता है, किंतु ब्रह्म स्वतन्त्र और अखण्ड ज्ञान तथा शक्तिसे युक्त होनेके कारण चेतन-अचेतनरूपी शरीरका यथेच्छ प्रयोग कर सकता है।

करु०—जीव अनेक हैं। वह परमेश्वरका अंश है। तत्त्व एक है, व्यक्ति अनेक हैं। माया-जीवका सम्बन्ध अनादिसे है। मायामें तीन भेद हैं—अविद्या, विद्या ओर आह्लादिनी। तहाँ अविद्याके सम्बन्धसे जीव बद्ध है और विद्याके सम्बन्धसे मुमुक्षु जीवन्मुक्त है। आह्लादिनीमय (माया?) त्रिपादविभूति है, नित्य है। जीव और आह्लादिनी एक ही तत्त्व हैं। और विद्या जीवका विशेषण ज्ञान-विज्ञान इत्यादि है।

'रामरूपस्य तेजोऽयं जीवो वेदः प्रभाषितः। भेदं मतस्य सर्वेषामाचार्याणां वदामि ते॥'—(महारामायणे)। अर्थात् यह जीव श्रीरामजीके रूपका तेज है, यह वेद कहते हैं। जीवात्माके सम्बन्धमें जो मतभेद है वह कहता हूँ।—(करु०) पुनश्च **'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।'** (गीता) *'ईश्वर अंश जीव अबिनासी।'* **'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'** इति श्रुतिः—(पं०)

रा० प्र०—१ *'जीव अनेक'* जैसे फूटे दर्पणमें नाना मुख। २—*'मुधा भेद'* का भाव कि *'प्रथम रहे हम सिंह भए बकरिया'*, हैं तो हम सिंह ही पर अपनेको बकरी मान बैठे हैं।

नोट—४ *'जीव अनेक एक श्रीकंता'* इति। जीव अनेक है, इस कथनसे जीव और ब्रह्मका पार्थक्य जनाया। इनका पार्थक्य उपनिषद्‌में सर्वत्र अत्यन्त परिस्फुटरूपमें पुनः-पुनः उपदिष्ट है। यथा—**'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति।'** (श्वे० १। ६) (अपने-आपको और सबके प्रेरक परमात्माको अलग-अलग जानकर उसके बाद उस परमात्मासे स्वीकृत होकर अमृतभावको प्राप्त हो जाता है। अर्थात् संसारचक्रसे छूट जाता है), **'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।'** (श्वे० १। १२) (भोक्ता जीवात्मा, भोग्य जडवर्ग और उनके प्रेरक परमेश्वर—इन तीनोंको जानकर मनुष्य सब कुछ जान लेता है। इस प्रकार यह तीन विभाग ब्रह्मके ही हैं। वेदान्तसूत्रमें भी यही घोषणा की है कि जीव और ब्रह्म एक नहीं हैं—**'भेदव्यपदेशाच्च।'** (१। १। १८) **'अधिकं तु भेदनिर्देशात्।'** (२। १। २१) जीव और ब्रह्म तत्त्वतः एक होकर भी, अंशांशी होकर भी वस्तुतः विभिन्न हैं। भावतः विभिन्न हैं। आत्मज्ञ त्रैगुण्यनिर्मुक्तजीव सर्वभूतात्मभूतात्मा जीव भी देहपात होनेपर ब्रह्म नहीं हो जाता। इस तत्त्वपर ब्रह्मसूत्रमें स्पष्टरूपसे विचार किया है। (आचार्य श्रीक्षेत्रलाल साहा)

पुनः *'जीव अनेक'* से जीवको अनन्त बताया। यथा—**'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥'** (श्वे० ५। ९) (बालकी नोकके दस हजारवें भागके बराबर जीवका स्वरूप समझना चाहिये। वह असीम भाववाला होनेमें समर्थ है। भाव कि वह जडजगत्‌में सर्वत्र व्याप्त है)।

'श्रीकंता'—जिसको पूर्व सीतावर, ईश्वर, ईश, भगवंत कहा उसीको श्रीकंत कहा अर्थात् श्रीकंत=सीतापति श्रीरामजी। जीवको अनेक और श्रीकंतको एक कहकर जनाया कि जीवोंके रूप उनके कर्मानुसार अनन्त प्रकारके हैं, पर श्रीरामरूप सर्वज्ञ एक ही है। यथा—*'जीव चराचर जो संसारा। देखे सकल अनेक प्रकारा॥ पूजहिं प्रभुहिं देव बहु बेषा। रामरूप दूसर नहिं देखा॥'* (१। ५५। २-३) *'लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। —सकल जीव तहँ आनहिं भाँती। —अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन।'* (८१ (१)—८१)

५—*'मुधा भेद जद्यपि कृत माया'* *'ज्ञान अखंड एक सीताबर। —भेद कहहु कस'* से यहाँतक भेद कहा। स्वतन्त्र-परतन्त्र और एक-अनेक होनेका भेद कहा। इस भेदको मायाकृत कहा। अब जो भेदको

मिथ्या मानते हैं उनके पक्षको लेकर कहते हैं कि यदि कहो कि यह भेद मिथ्या है, मायाकृत है, तो सुनो। (पं० रा० व० श०)।

६—*'मुधा भेद जद्यपि कृत माया'* इति। भाव कि जीव भी चेतन, अमल, सहज सुखराशि, अविनाशी, सर्वभेदशून्य और सर्व उपाधियोंसे रहित है। भेद जो है वह शरीरको लेकर है। यही (श्वे० ५। १०) में प्रतिपादित जान पड़ता है। यथा—**'नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः। यद् यच्छरीरमादत्त तेन तेन स युज्यते॥'** (जीवात्मा न तो स्त्री है, न पुरुष और न नपुंसक ही। वह जिस-जिस शरीरको ग्रहण करता है, उस-उससे संबद्ध हो जाता है। जो जीवात्मा आज स्त्री है, वही दूसरे जन्ममें पुरुष हो सकता है, जो पुरुष है वह स्त्री हो सकता है। भाव कि ये स्त्री, पुरुष और नपुंसक आदि भेद शरीरको लेकर हैं, जीवात्मा सर्वभेदशून्य है)।

माया जड़ है, कर्म भी जड़ है। जीव चेतन है। तब जड़ चेतनको कैसे बाँध सकता है! फिर भी जीव बँधा हुआ मानता है जैसे तोते स्वयं पोगलीकी पकड़े बैठे रहते हैं और बंदर तङ्ग घड़ेमें हाथ डालकर मुट्ठी बाँधे हाथ बाहर नहीं निकाल सकते, स्वयं तो बँधे हैं पर समझते हैं कि पोगली वा घटने हमें पकड़ लिया है। इसी तरह मायावश वा परवश होना, आदि सब भेद असत्य हैं, जीव अपने स्वरूपको भूल गया है, इसीसे वह अपनेको बँधा हुआ समझता है; पर असत्य होनेपर भी यह भ्रम बिना प्रभुकी कृपाके नहीं छूटता। यथा—*'जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥'* (११७। ४)

७ अद्वैतमतानुसार यहाँ व्यवहारावस्थामें जीव-ब्रह्ममें भेद और परमार्थावस्थामें अभेद स्वीकार किया है। *'माया बस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान'* आदि वाक्य इसी दृष्टिसे कहे गये हैं। जीव-जीवमें भी भेद मायाकृत ही है। *'मुधा भेद जद्यपि कृत माया'* से परमार्थावस्थामें अभेद कहा और *'बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया'* से मायाकृत भेदका बाध (ब्रह्मसाक्षात्कारसे) कहा। (वि० त्रि०)।

३—*'बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया।'* जप, तपादि अनेक उपाय करनेसे भी माया नहीं छूटती, हरिकृपासे ही छूटती है—यह कहकर मायाका अतिशय प्राबल्य दिखाया, यथा—(वि० ११६)—

माधव असि तुम्हारि यह माया। करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं, जब लगि करहु न दाया॥
सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै। जेहि अनुभव बिनु मोहजनित दारुन भव बिपति सतावै॥
ब्रह्म पियूष मधुर सीतल जौं पै मन सो रस पावै। तौ कत मृगजल रूप बिषय कारन निसि बासर धावै॥
जेहि के भवन बिमल चिंतामनि सो कत काँच बटोरै। सपने परबस परै जागि देखत केहि जाइ निहोरै॥
ज्ञान भक्ति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं। तुलसिदास हरिकृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं॥
'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥'
(गीता ७। १४), विनय पद १२०—१२४ भी देखिये॥

पं० रा० व० श०—*'मुधा भेद।'* भाव कि जितने भेद कहे जाते हैं वे मायाके हैं। एक ही चेतन अनेक शरीरमें अनेक भासित होता है। यह शंका करो कि 'भेद मिथ्या है तो उसके लिये यत्नकी आवश्यकता क्या? वह आप-से-आप मिट जायगा; जैसे रस्सीके साँपका भ्रम उजाला होते ही स्वयं मिट जाता है।' उसपर कहते हैं कि यह भेद ऐसा नहीं है। जो भेद अध्यासित या औपाधिक होते हैं वे ही आपसे दूर हो जाते हैं पर यह वैसा नहीं है। वस्तुतः माया और जीव दोनों परमात्माके शरीर हैं। श्रुति कहती है कि जो भगवान् आकाश, जल, वायु इत्यादि चराचर जगत्मात्रके भीतर रहकर सबका प्रेरक है, वह आत्माके भीतर भी है, पर आत्मा उसे नहीं जानता, आत्मा उसका शरीर है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे आत्मा शरीर नहीं है पर शरीरके नामसे दिये हुए पिण्डादिक उसे मिलते हैं वैसे ही आत्मा परमात्मा वस्तुतः भिन्न हैं पर परमात्मा शरीरी होनेसे आत्माको भी ब्रह्म कहते हैं।

वै०—ईश्वर सर्वज्ञ जीव अल्पज्ञ, यह भेद कभी मिटनेवाला नहीं। जीव अविद्या मायाके वश है जो त्रिगुणकी खानि है और विद्या माया जो शुभ गुणकी खानि है वह ईश्वरके वश है। *'एक श्रीकंता'* का भाव कि ईश्वरकोटिमें भेद नहीं है, षडङ्ग ऐश्वर्य सबमें है।

पं०—'*मुधा भेद जद्यपि कृत माया।*' जीव और ईश्वरमें जो भेद है वह मायाकृत है। जब माया ही सत्य नहीं, यथा—'*जदपि असत्य देत दुख अहही*', '*सो दासी रघुबीर की समुझे मिथ्या सोपि*', तब उसका रचा हुआ भेद कब सत्य हो सकता है? वह भी असत्य ही है।

दो०—रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूछ बिषान॥
राकापति षोडस उअहिं तारागन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रबि राति न जाइ॥ ७८॥

शब्दार्थ—निर्वाण-मुक्तिके अर्थमें इसका प्रयोग गीता, भागवत, शारीरिक भाष्य इत्यादि नये पुराने ग्रन्थोंमें मिलता है। सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा (पूर्व) और वेदान्तमें क्रमशः मोक्ष, अपवर्ग, निःश्रेयस्, मुक्ति या स्वर्गप्राप्ति तथा कैवल्य शब्दोंका व्यवहार हुआ है।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके भजन बिना जो कोई निर्वाणपद चाहे वह मनुष्य ज्ञानवान् भी होनेपर बिना पूँछ और सींगका पशु है। सोलहों कलाओंसे पूर्ण चन्द्र उदय हो और तारागणका जितना समुदाय है वह भी उदय हो तथा जितने पर्वत हैं उन सबोंमें दवाग्नि लगा दी जाय तब भी बिना सूर्यके रात्रि नहीं जा सकती॥ ७८॥

नोट—'*रामचन्द्र के—निर्बान*' इति। श्रीरामभक्तिसे निर्वाण भी मिलता है। ऐसा ही सिद्धान्तग्रन्थके आदि, मध्य और अन्तमें सर्वत्र कहा है। यथा—'**यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्**।'(बा० मं०) '*जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं।*' (२। ४। ७), '*सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि। भजहु रामपदपंकज अस सिद्धांत बिचारि॥*' (११९) '*बारि मथे घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल। बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल॥*—विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे। हरिं नरा भजंति येऽतिदुस्तरं तरंति ते॥'(१२२) '*रामचरन रति जो चह अथवा पद निर्बान। भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान॥*' (१२८)

२ '*ज्ञानवंत अपि सो—*' इति। इससे जनाया कि ज्ञानसे भी मुक्ति मिलती है—'*ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना।*' पर '*ज्ञान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥*' (११९। १), '*जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥*' (१३ छंद)

जो भक्तिको छोड़कर केवल ज्ञानके लिये परिश्रम करते हैं उनके लिये आगे भी ऐसे ही कड़े शब्द कहे हैं। यथा—'*जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥ ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥ सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥ ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी।*' (११५। १—४)

जो कैवल्य मुक्ति ज्ञानी चाहते हैं, उसकी परवा सगुणोपासक नहीं करते, दूसरे बिना किसी क्लिष्ट साधनके भक्तिसे वह बिना माँगे मिल सकती है। यथा—'*राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥*' (११९। ४) और फिर '*जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥ तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई॥*' (११९। ५-६)

ज्ञानी और भक्त दोनों शत्रु काम-क्रोधादि हैं पर अमानी भक्तकी रक्षा भगवान् करते रहते हैं, और ज्ञानी अपने बलपर चलता है, उसकी चिन्ता भगवान्को नहीं रहती। यह समझकर जो ज्ञानी सयाने हैं वे हरिभक्तिका त्याग नहीं करते। '*यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥*' (३। ४३) ऐसा करनेसे वे भगवान्के प्रिय भी हो जाते हैं।

अतएव जो रामभजन छोड़कर मोक्षकी चाह करते हैं उनको '*पसु बिनु—*' कहा। क्योंकि '*सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू।*', '*भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥ भजन हीन सुख कवने काजा।*' (८४। ५-६)

३—ऐसा ही कविने अन्यत्र भी कहा है—*'अस प्रभु छाँड़ि भजहिं जे आना। ते नर पसु बिनु पूँछ बिषाना॥'* (५।५०।१) वहाँ अन्यके भजन करनेवालेको बाँड़ा—डूँड़ा पशु कहा और यहाँ बिना रामभजनके मोक्ष चाहनेवालेको। लांगूलविशिष्ट चतुष्पद जन्तु अर्थात् चार पैरोंसे चलनेवाला कोई भी जन्तु जिसके पूँछ भी हो उसकी 'पशु' संज्ञा है। अमरकोशमें पशु शब्दके अन्तर्गत इन जन्तुओंके नाम आये हैं—'सिंह, बाघ, लकड़बग्घा (चरग), सूअर, बंदर, भालू, गैंड़ा, भैंसा, गीदड़, बिल्ली, गोह, साही, सब जातिके हिरन, सुरा गाय, नील गाय, खरहा, गन्धबिलाव, बैल, ऊँट, बकरा, मेढ़ा, गदहा, हाथी और घोड़ा। पर यहाँ *'बिनु पूँछ बिषान'* कहकर कवि उस पशुका निर्देश कर रहे हैं जिसके पूँछ और सींग दोनों हों। जैसे गाय, भैंस इत्यादि। *'बिनु पूँछ बिषान'* मुहावरा है। पशु बिना पूँछ और सींगके असमर्थ और अशोभित होता है। लोकमें भी बिना पूँछवाला बाँड़ा और बिना सींगका डूँड़ा कहलाता है। वैसे ही *'बिना पूँछ बिषान'* कहकर यहाँ जनाया कि बिना हरिभजनके मनुष्यकी न शोभा है और न वह मोक्ष पा सकता है। वस्तुतः वह पशु ही है, भेद केवल इतना है कि पशुके पूँछ और सींगकी इनमें कमी है। वे मनुष्य गर्दभ, सूकर और श्वानके समान हैं जो बिना पूँछ-सींगवाले पशु हैं, यथा—*'तिन्ह तें खर सूकर श्वान भले जड़ता बस ते न कहैं कछु वै। तुलसी जेहि राम सो नेह नहीं सो सही पसु पूँछ बिषान न द्वै॥'* (क० उ० ४०), *'जो पै रहनि राम सों नाहीं। तौ नर खर कूकर सूकर से जाय जियत जग माहीं॥'* (वि० १७५)

खर भार लादता है, ये तप, व्रत, जप, ज्ञान, वैराग्यादि साधनोंका व्यर्थ भार ढोते हैं, सूकरकी मलिन गति सब जानते हैं और श्वान निरादर होनेपर भी फिर उसी द्वारपर जाता है वैसे ही ये उन सब साधनोंसे बारम्बार जन्म-मरण पाकर भी फिर उन्हींमें जाते हैं।

प्र० सं०—*'ज्ञानवंत अपि'* का भाव कि ज्ञानसे मोक्ष होता है, बिना ज्ञानके मोक्ष नहीं होता, यथा—*'ज्ञान मोक्षप्रद बेद बखाना' 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'* तथापि बिना रामभजनके ज्ञानी होनेपर भी वह अशोभित ही है, यथा—*'सोह न राम पेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥'* (अ० २७७) वह ज्ञानी मनुष्य मनुष्य नहीं है वरन् पशु ही है। जैसे पशु चेतन होते हुए भी अज्ञानी होता है वैसे ही ज्ञान होते हुए भी वह मनुष्य अज्ञानी है।

पं० रा० व० श०—*'ज्ञानवंत अपि'* अर्थात् अध्यारोप अपवादका वेदान्तसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया हो तो भी। भाव यह कि भगवान् जहाँ नहीं हैं वही अविद्या है, जहाँ वे हैं वही प्रकाश हैं। जैसे चन्द्रमा या दीपकादिसे उजाला भले ही हो पर यह कोई न कहेगा कि रात नहीं है। रात नहीं है, यह तो सूर्योदय होनेपर ही कहा जायगा।

नोट—४ षोडश=सोलह। चन्द्रमाकी १६ कलाएँ वा भाग हैं जो क्रमसे एक-एक करके निकलते और क्षीण होते हैं। इनके नाम ये हैं—१ अमृता, २ मानदा, ३ पूषा, ४ पुष्टि, ५ तुष्टि, ६ रति, ७ धृति, ८ शशनी, ९ चन्द्रिका, १० कान्ति, ११ ज्योत्स्ना, १२ श्री, १३ प्रीति, १४ अंगदा, १५ पूर्ण और १६ पूर्णामृता। चन्द्रमा शुक्लपक्षमें कला-कला करके बढ़ता है और पूर्णिमाके दिन उसकी सोलहवीं कला पूर्ण हो जाती है। बैजनाथजी चन्द्रमाकी कलाओंपर 'शारदा तिलक' का यह श्लोक देते हैं—**'अमृतां मानदां तुष्टिं पुष्टिं प्रीतिं रतिं तथा। लज्जां श्रियं स्वधां रात्रिं ज्योत्स्नां हसवतीं ततः। छायां च पूर्णां वामाममाचन्द्रकला इमाः॥'** *संत संग अपबर्ग......'* की टीकामें)।

नोट—५ *'सकल गिरिन्ह दव लाइय......'* भाव कि सारे देवताओंकी उपासना करें तो भी माया-मोह नहीं दूर हो सकता। रूपककी व्याख्या अगली चौपाईमें देखिये।

ऐसेहिं बिनु हरि भजन* खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥ १॥

* गौड़जी—'हरि बिनु भजन' पाठ समीचीन नहीं दीखता क्योंकि यदि हरिको सम्बोधन मानें तो हरिका अर्थ गरुड़ होना चाहिये, जिसमें अप्रसिद्ध दोष है और यदि भजनका विशेषण मानें तो भजनके पहले विनोक्ति अप्रासंगिक

हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापै तेहि बिद्या॥ २॥
ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़ै बिहंगबर॥ ३॥

अर्थ—इसी प्रकार (अर्थात् जैसे पूर्णचन्द्रादि सभी होते हुए भी बिना रविके रात्रि नहीं जाती वैसे ही) हे खगेश! बिना हरिभजनके जीवोंका क्लेश नहीं मिटता॥ १॥ भगवद्भक्तको अविद्यामाया नहीं व्यापती। प्रभुकी प्रेरणासे उसे विद्यामाया व्यापती है॥ २॥ इसीसे दासका नाश नहीं होता। हे पक्षिश्रेष्ठ! (उससे) भेदभक्ति बढ़ती है॥ ३॥

नोट—१ (क) *'ऐसेहि—'* इति। यहाँ हरिभजन सूर्य है, क्लेश रात्रि है, रात्रिका जाना क्लेशका मिटना है, ज्ञान सोलहों कलापूर्ण चन्द्र है, जप, तप, ज्ञान, वैराग्य, योग, यज्ञादि, साधन, तारागण आदि है। तत्त्वमसि महावाक्यादिका ज्ञान पर्वतोंका दावानल है। (ख) ऊपर ज्ञानवंतके दृष्टान्तके सम्बन्धसे यहाँ क्लेशसे योगशास्त्रमें कहे हुए अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पञ्चक्लेशोंसे तात्पर्य है।

(ग) *'जप जोग बिराग महामख साधन दान दया दम कोटि करै। मुनि सिद्ध सुरेस गनेस महेस से सेवत जन्म अनेक मरै॥ निगमागम ज्ञान पुरान पढ़ै तपसानल में युगपुंज जरै। मन सों प्रण रोपि कहै तुलसी रघुनाथ बिना दुख कौन हरै॥'* इस कवित्तमें तीन चरणोंमें पृथक्-पृथक् कही हुई बातोंको भी चन्द्र, तारागण और दव ले सकते हैं। योग दावानल है। (वै०)

२ ☞ अब हरिभक्तिकी विशेषताका कारण कहते हैं। (क) *'हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या'* इति। भाव कि जो जीव हरिसेवक नहीं हैं उनको अविद्या व्यापती है, हरिसेवकको नहीं व्यापती, यथा—*'एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥'*(आ० १५) [भाव यह है कि 'मैं तेरा हूँ' ऐसा कहते ही प्रभु अभय देते हैं, यह उनकी प्रतिज्ञा है। यथा— **'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥'**, उनकी प्रतिज्ञा है—*'करौं सदा तिन्ह कै रखवारी।'* तब कौन ऐसा है जो भक्तको हाथ लगा सके। *'सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥'* जैसे उद्यापन करनेसे राक्षसादि निकट नहीं जा सकते (रा० प्र०)] (ख) ☞*'सो माया न दुखद मोहि काहीं'* ऊपर कहा था, उसका कारण यहाँ कहा। *'नाथ इहाँ कछु कारन आना—'*(७८। ४) पर जो प्रसङ्ग छोड़ा था वह फिर यहाँसे उठाया।

३ *'प्रभु प्रेरित ब्यापै तेहि बिद्या'* (क) यहाँ दो बातें कहीं, वह यह कि यदि जीव कहीं अभिमानवश हो गया क्योंकि उसका धर्म ही है—*'जीव धरम अहमिति अभिमाना'* तो उसे विद्या व्यापती है, पर वह भी प्रभुकी प्रेरणासे। (ख) *'प्रभु प्रेरित'* का भाव कि हरिसेवकको विद्या भी अपने बलसे नहीं व्याप सकती, जब व्यापती है तब प्रभुकी ही प्रेरणासे—नहीं तो वह तो भक्तसे डरती रहती है, यथा—*'रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥'* (११६। ६-७)

गौड़जी—*'प्रभु प्रेरित ब्यापै तेहि बिद्या'* में यह भाव है कि साधारणतया सभी जीव विषयसुखको अपना परम उद्देश्य मानते हैं, मृत्युके साथ अपना मर जाना जानते हैं और संसृतिसे उन्हें राग होता है। भक्तको बन्धनका ज्ञान होता है, सांसारिक विषयोंसे विरति होती है, वह देहसे अपनेको अलग जीव समझता है और स्वामीसे अपने जीवत्वका भेद मानता है। यह सब उसके आध्यात्मिक विकासके लक्षण हैं जो

होती है। इसलिये 'बिनु हरिभजन' ही ठीक पाठ है। का० में 'बिनु हरिभजन' पाठ है। विनोक्तिको दीपदेहरी न्यायसे दोनों ओर लगा सकते हैं और अर्थ यों होगा कि बिना भगवान्‌के और बिना भजनके अर्थात् भगवान् और उनका भजन दोनों ही क्लेश-निवारणके लिये अनिवार्य हैं। परंतु 'हरि' और 'हरिभजन' में कार्य और कारणका सम्बन्ध है क्योंकि बिना हरिभजनके हरि नहीं मिलते। और कारण और कार्यका भी सम्बन्ध है, क्योंकि बिना हरिकृपाके भजन नहीं होता। वस्तुतः भजन और हरिका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसलिये 'हरि बिनु भजन' पाठ ठीक समझा जा सकता है। परंतु मैं नहीं समझता कि मानसकार ऐसे जटिल तर्कके पोषणके लिये हरि और भजनके बीच जान-बूझकर विनोक्ति देंगे। इसी विचारसे 'हरिभजन' पाठ अधिक सरल और समीचीन समझता हूँ।

प्रभुकी प्रेरणासे ही उपस्थित होते हैं। दास अविद्यामें कभी नहीं फँसता, अतः उसका पतन वा नाश नहीं होता। ईश्वर और जीवके स्वामी और दासके सम्बन्धकी भक्ति उत्तरोत्तर सुदृढ़ होती जाती है।

वै०—१ विद्या और अविद्याके व्यापनेमें भेद यह है कि विद्या तो ज्ञान-भक्तिका रूप ही है अतः जिसमें व्यापती है उसे अज्ञानी नहीं कर देती, देखनेमात्र दुःखद है अन्तमें सुखद है। जैसे माता बालकके फोड़ा चिराते समय दुःखद देख पड़ती है। और अविद्या जिसे व्यापती है उसे अज्ञानी कर देती है। २—अविद्यामायाकृत भेद जीवको ईश्वरसे विमुख कर उसका नाश कर उसे चौरासीमें डाल देता है और विद्या मायाकृत भेद जो सेवक-सेव्यभाव है उससे भक्ति बढ़ती है। भक्तिके प्रभावसे हरिदासका नाश नहीं होता। चौरासीमें पड़ना नाश होना है।

नोट—*'ताते नास न होइ दास कर'* इति। नाश न होनेका भाव कि उसका पतन नहीं होता। यथा—**'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।'** (गीता ९। ३१), **'न वै जनो जातु कथंचनाव्रजेन्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम्। स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः॥'** (भा० १। ५। १९) श्रीनारदजी व्यासजीसे कह रहे हैं कि मुकुन्दसेवी जन कभी संसारचक्रमें नहीं पड़ सकता। वह मुकुन्दचरणाम्बुजके आलिङ्गनसुखका स्मरणकर फिर उसे छोड़नेकी इच्छा नहीं करता, क्योंकि उसे भगवद्रसका अनुभव हुआ है।

गीतामें जो भगवान्ने कहा है कि 'तू निश्चय जान कि मेरी भक्तिमें लगा हुआ पुरुष नष्ट नहीं होता, उसका भाव यह है कि विरोधी आचरणोंसे मिश्रित होनेपर भी वह नष्ट नहीं होता, प्रत्युत मेरी भक्तिकी महिमासे समस्त विरोधी समुदायका नाश करके वह सदा रहनेवाली शान्तिको—विरोधिनिवृत्तिको प्राप्त करके शीघ्र ही परिपूर्ण भक्तिमान् हो जाता है। (श्रीरामानुजभाष्य)।'

यही भाव कवितावलीके ***'आपु हौं आपुको नीके कै जानत रावरो राम भरायो गढ़ायो। कीर ज्यों नाम रटै तुलसी सो कहै जग जानकीनाथ पढ़ायो॥ सोइ है खेद जो बेद कहैं न घटै जन जो रघुबीर बढ़ायो। हौं तो सदा खरको असवार तिहारोइ नाम गयंद चढ़ायो॥'*** (७। ६०) इस पदमें है।

पं० श्रीकान्तशरण—विद्या मायाका व्यापार यह है कि वह जीवके प्रति भगवान्‌के शरीररूपमें जगत्‌की स्थिति-प्रवृत्ति दृढ़ कर देती है। उससे यह निश्चय हो जाता है कि ***'मैं सेवक सचराचररूप स्वामि भगवंत।'*** यह सेवक-स्वामिभावकी भेदभक्ति नित्य बढ़ती है। इससे भक्तका नाश नहीं होता।

दासका नाश होना क्या है? जो गीता (२। ६३-६४) में कहा है कि जीवकी इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर दौड़ती हैं, उससे काम, कामकी असिद्धिसे क्रोध, क्रोधसे सम्मोह और इससे कर्तव्याकर्तव्यकी विस्मृति होनेसे वह अकर्तव्यमें प्रवृत्त हो जाता है। उसके व्यवहारमें कटुता, कायरता, हिंसा, दीनता, जड़ता आदि दोष आ जाते हैं। वह अपनी पूर्वकी स्थितिसे गिर जाता है और मरनेपर अधोगतिको प्राप्त होता है—यही उसका नाश होना है।

वि० त्रि०—यहाँ विद्यासे अभिप्राय अपरा विद्यासे है, क्योंकि परा विद्यासे तो आत्यन्तिक प्रलय अर्थात् मोक्ष हो जाता है। स्पष्ट शब्दोंमें कहिये तो उसका नाश हो जाता है। आगे कहेंगे कि ***'ताते नास न होइ भगत कर। भेद भक्ति बाढ़ै बिहंग बर॥'*** ऋक्, यजुः, साम, अथर्व, छन्द, ज्योतिष आदि अपरा विद्या है और इन सबकी प्रवृत्ति भेद लेकर ही होती है। अतः भेदभक्तिके बढ़नेके लिये अपरा विद्या व्यापती है।

पं०—***'ताते नास न होइ'*** अर्थात् वह जन्मादिका भागी नहीं होता (जैसे कि अविद्याके व्यापनेसे होता है—***'जा बस जीव परा भवकूपा'***)* पर भेदभक्ति बढ़ती है अर्थात् ईश्वरको भिन्न माननेमें कभी भ्रम पड़ता है परंतु भक्ति करते हैं। जैसे कि मुझको रघुनाथजीके विषयमें कुतर्क हुआ तो भी माया देखते भी जब प्रभुका जन्म सुनता तब दर्शनको चला गया फिर 'त्राहि' कर शरणमें पड़ा।

श्रीजयदयालजी गोयन्दका—उपनिषदुक्त सभी साधन भेदोपासना और अभेदोपासनाके अन्तर्गत आ जाते

* रा० प्र०—नाश न होनेका भाव कि 'जो नित अव्यय दास सोइ मो का जानैंगे क्रूरा।' और 'यह दासपनी खेलवार नहीं, बनि न सकत कोटिउ साधन ते याको कोउ बाजार नहीं'।

हैं। भेदोपासनाके भी दो प्रकार हैं। एक तो वह, जिसमें साधनमें भेदभावना रहती है और फलमें भी भेदरूप ही रहता है और दूसरी वह जिसमें साधनकालमें तो भेद रहता है, परंतु फलमें अभेद होता है।

भेदोपासनामें तीन पदार्थ अनादि माने जाते हैं, माया, जीव और मायापति परमेश्वर। प्रकृति जड़ है और उसका कार्यरूप दृश्यवर्ग क्षणिक, नाशवान् और परिणामी। जीवात्मा और परमेश्वर साक्षी है। एवं जीव उपासक है और परमेश्वर उपास्य। दोनों ही नित्य चेतन और आनन्दस्वरूप हैं, किन्तु जीवात्मा अल्पज्ञ और परमेश्वर सर्वज्ञ है, जीव असमर्थ है और परमेश्वर सर्वसमर्थ है; जीव अंश है, परमेश्वर अंशी है; जीव भोक्ता है और परमेश्वर साक्षी है एवं जीव उपासक है और परमेश्वर उपास्य है। वे परमेश्वर समय-समयपर प्रकट होकर जीवोंके कल्याणके लिये उपदेश भी देते हैं।

इस विषयमें केनोपनिषद्में एक इतिहास आता है⋯ जिसमें यह सिद्ध हो जाता है कि प्राणियोंमें जो कुछ भी बल, बुद्धि, तेज एवं विभूति है, सब परमेश्वरसे ही है। इस प्रकार उपनिषदोंमें कहीं साकाररूपसे और कहीं निराकाररूपसे, कहीं सगुणरूपसे और कहीं निर्गुणरूपसे भेद-उपासनाका वर्णन आता है। वहाँ यह भी बतलाया है कि उपासक अपने उपास्य देवकी जिस भावसे उपासना करता है, उसके उद्देश्यके अनुसार ही उसकी कार्यसिद्धि हो जाती है। (कठ० १। २। १६-१७, मुण्ड० ३। १। १३) में भी उपासनाका भेदरूपसे वर्णन है। सारांश यह कि सर्वसुहृद् उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको तत्त्वसे जानकर उसीकी शरण लेनी चाहिये। श्वेताश्वतर उ० में परमेश्वरकी भेदरूपसे उपासनाका वर्णन विस्तारसहित आता है—मन्त्र (३। १७, २०; ४। १०-११, १४; ६। ११-१२, १८) देखिये।

भेदोपासनाके अनुसार चार प्रकारकी मुक्ति बतलायी गयी है—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। (उपनिषदाङ्कसे संक्षेपसे उद्धृत)।

नोट—श्रीगोयन्दकाजीका मत है कि सायुज्यमुक्तिमें साधनमें तो भेद है, पर फलमें भेद नहीं रहता। वे भगवान्‌के स्वरूपमें अभेदरूपसे विलीन हो जानेको सायुज्य मुक्ति कहते हैं। पर भक्तिग्रन्थमें यह सुना जाता है कि सायुज्यके जीव भगवान्‌के भूषण-वस्त्रादिरूपसे उनके सच्चिदानन्दविग्रहके स्पर्शसुखका अनुभव करते हैं। नारद-पञ्चरात्र परम संहितामें सायुज्यके सम्बन्धमें—'**सायुज्यं प्रतिपन्ना ये तीव्रभक्तास्तपस्विनः। किङ्करा मम ते नित्यं भवन्ति निरुपद्रवाः॥**' सायुज्यवाले भी परिकर-भावसे सेवामें ही आनन्द मानते हैं। यही भाव विनयके '***खेलिबे को खग-मृग, तरुकिंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं। एहि नाते नरकहु सचु, पैहौं या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं। इतनी जीय लालसा दासके⋯।***' (२३१) इस पदमें है। वे परमपद प्राप्त होनेपर भी कैंकर्य ही चाहते हैं।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीका मत है कि अद्वैतवाद भक्तिके दो भेद मानता है—एक भेद-भक्ति, दूसरा अभेद-भक्ति। अभेद-भक्तिका साधक ब्रह्ममें लीन हो जाता है और भेद-भक्तिका साधक ब्रह्ममें लीन न होकर तत्सान्निध्यसे मोक्षसुखका अनुभव करता है।

☞ '*सो माया न दुखद मोहि काहीं। आन जीव इव संसृत नाहीं॥*' (७८। २) उपक्रम है और '*ताते नास न होइ दास कर*' उपसंहार है।

भ्रम तें चकित राम मोहि देखा। बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा॥ ४॥
तेहि कौतुक कर मरमु न काहूँ। जाना अनुज न मातु पिताहूँ॥ ५॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने मुझे भ्रमसे हक्का-बक्का चकपकाया (आश्चर्यान्वित) देखा और जो हँसे वह विशेष चरित सुनो॥ ४॥ उस कौतुकका भेद किसीने न जाना, भाइयों और माता-पिताने भी न जाना॥ ५॥

नोट—१ '*भ्रम तें चकित⋯*' इति। (क) पूर्व प्रसंग '***देखि भएउ मोहि मोह⋯॥ एतना मन आनत खगराया। रघुपति प्रेरित ब्यापी माया॥***' पर छूटा था, उसे अब फिर उठाते हैं—'***भ्रम तें चकित⋯बिहँसे।***' (ख) '***कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद संदोह***', यही भ्रमसे चकित होना है। (ग) '***राम मोहि देखा।***' देखाका भाव कि मनमें जो भ्रम उठा था वह चेष्टासे भी देख पड़ता था। अथवा हृदयकी जान गये। भगवान्‌का देखना-जानना

एक ही बात है, क्योंकि वे सर्वदर्शी हैं और सर्वान्तर्यामी भी। (घ) *'बिहँसे सो सुनु——'* इति। *'रघुपति प्रेरित ब्यापी माया'* पूर्व कहा और यहाँ कहते हैं कि *'बिहँसे सो सुनु चरित——।'* इससे जनाया कि 'हँसे'; यही मायाको प्रेरित करना है। हास माया है ही। यथा—*'माया हास——।'* (६। १५। ५) पुनः, बिहँसेका भाव कि हमारे तत्त्वका जाननेवाला, लोमश ऐसे मुनिसे भक्तिपक्षमें न हारनेवाला सो भी भूल गया, आज कहता है कि कैसा चरित्र करते हैं। ☞ इसी प्रकार जब श्रीकौसल्या अम्बाको 'भ्रम' हुआ तब हँसे थे, यथा—*'इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मति भ्रम मोर कि आन बिसेषा। देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी॥'* (१। २०१। ७-८)

रा० शं० श०—नारदमोहमें भी हँसे थे, यथा—*'निज मायाबल देखि बिसाला। हिय हँसि बोले दीनदयाला॥'* कौतुकमें आश्चर्ययुक्त बातें दिखायी जाती हैं; इस प्रसंगमें सब आश्चर्य ही भरा पड़ा है।

नोट—२ *'तेहि कौतुक कर मरमु न काहूँ।——'* इति। (क) पूर्व कहा कि *'सुनु चरित'* और यहाँ 'कौतुक', इससे दोनों पर्याय सूचित किये। मायाका चरित प्रभुका कौतुक है, यथा—*'मुनि कर हित मम कौतुक होई।——।'*(१। १२९) (ख) किसीको न मालूम होनेका कारण यह है कि सर्वात्मा भगवान् एक रूपसे हँसे और वहीं ज्यों-की-त्यों बने खेलते रहे और दूसरे रूपसे उनके पीछे दौड़े, यथा—'**सर्वात्मा रामचन्द्रोऽपि तस्य विज्ञाय मानसम्। जहासैवैकरूपेण तं द्वितीयेन दुद्रुवे॥**' (सत्यो०)। आकाशमें पीछे-पीछे अदृश्य रूपसे जा रहे हैं जिसे भुशुण्डिजी ही देख सकते थे दूसरा नहीं, यही मायाका चरित है। जैसे नारद-प्रसंगमें वानररूप विश्वमोहिनीको देख पड़ा और हरगणोंको, शेष सबको देवर्षि नारद ही देख पड़ते थे, यह प्रभुकी मायाका चरित था। (ग)—अनुज, माता और पिताका नाम दिया और *'न काहू'* उससे पृथक् कहा। इससे जनाया कि इनके अतिरिक्त वहाँ और भी लोग थे। वह कौन थे। साथ खेलनेवाले बालसखा, आकाशमें छिपे हुए सिद्ध और देवता तथा बालकेलि देखनेवाले और भी परिजन। तथा—*'ते नृप अजिर जानु कर धावत धरन चटक चल काग। सिद्ध सिहात सराहत मुनिगन 'बड़े भूपके भाग' ('कहँ सुर किन्नर नाग')। ह्वं बरु बिहँग बिलोकिय बालक बसि पुर उपबन बाग॥ परिजन सहित राव रानिन्ह कियो मज्जन प्रेम प्रयाग॥'* (गी० १। २६) *'देखत नभ घन ओट चरित मुनि जोग समाधि बिरति बिसराये।'* (गी० १। २९)

☞*'बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा'* इति। पूर्व एक बार सुननेको कह चुके हैं, यथा—*'सुनहु सो सावधान हरिजाना।'* (७८। ३) यहाँ फिर *'सुनु चरित बिसेषा'* कहकर जनाया कि अब दूसरा प्रसंग कहते हैं। यहाँतक *'सो माया न दुखद मोहि काहीं'* इसके कारणका प्रसंग कहा जो *'सो माया न दुखद मोहि काहीं!'* (७८। २) से *'भेद भगति बाढ़इ बिहंग बर।'* (७९। ३) तक है। दूसरे प्रसंग अर्थात् मायाके विशेष चरितका आरम्भ *'बिहँसे सो सुनु——'* यहाँसे है।

वै०—मर्म किसीने न जाना, क्योंकि माधुर्यरूप तो जैसे खेल रहा था वैसा खेलता ही रहा और जो नित्य बालरूप रहा उससे गुप्त ऐश्वर्य प्रकट कर भुशुण्डिजीसे क्रीड़ा करते रहे।

जानु पानि धाए मोहि धरना। स्यामल गात अरुन कर चरना॥ ६॥
तब मैं भागि चलेउँ उरगारी। राम गहन कहँ भुजा पसारी॥ ७॥
जिमि जिमि दूरि उड़ाउँ अकासा। तहँ भुज हरि देखौं निज पासा॥ ८॥

अर्थ—श्याम शरीर और लाल-लाल हथेली और तलवेवाले प्रभु मुझे पकड़नेको घुटने और हाथोंके बल दौड़े॥ ६॥ हे उरगारि! तब मैं भाग चला। श्रीरामजीने मुझे पकड़नेके लिये भुजा फैलायी॥ ७॥ जैसे-जैसे मैं आकाशमें दूर उड़ता तैसे-तैसे वहाँ अपने पास भगवान्‌की भुजा देखता॥ ८॥

नोट—१ *'जानु पानि'* का अर्थ पंजाबीजीने जानुपर्यन्त लम्बी भुजा भी किया है पर यहाँ बालपनेकी लीला है जब कि प्रभु पैरोंके बल दौड़नेको समर्थ नहीं। (गी० १। २६) से भी इसकी पुष्टि होती है, यथा—*'ते नृप अजिर जानु कर धावत धरन चटक चल काग।'*, *'जानु पानि धाए'* से जनाया कि काग

पृथ्वीपर आँगनमें पहले फुदक-फुदक कर बैठता था, जब वह भागा, आँगनसे बाहर चला तब भुजा फैलायी।

२ (क) *'उरगारी'* का भाव कि मैं इस तरह भागकर चला जैसे आप उरगको पकड़ने दौड़ते हैं एवं जैसे उरग आपको देखकर प्राण-रक्षाके लिये भागता है। (ख) *'भुजा पसारी'* से जनाया कि प्रभु जहाँ-के-तहाँ बैठे हैं केवल भुजा ही बढ़ती चली जाती है।

पं० रा० व० श०—जो पूर्व कहा था कि प्रभुकी कृपा और अपनी जड़ता कहता हूँ, वह यहाँ बतायी कि मायाके कौतुक देखिये कि जिनके लिये सब लोग यत्न करते हैं, मैं उन्हींसे डरा कि पकड़ न लें। पकड़ लेंगे तो अच्छा ही है; यह ज्ञान ही न रह गया। उनके हाथोंमें तो सहर्ष चले जाना था।

नोट—२ ☞ *'जिमि दूरि उड़ाउँ'* यह प्रकरण सत्योपाख्यान (२६। ६-२२) में विस्तृतरूपसे है, अतः उसको यहाँ उद्धृत किया जाता है। अर्थ सरल है।

यत्र यत्र भुशुण्डोऽपि तत्र तत्र रघूद्वहः। सप्तभूविवरान् काको गतो रामभयाद्द्रुतम्॥
पृष्ठे भागे निरीक्षन् स धावमानो रघूत्तमम्। योजनानां सहस्राणि त्रिंशत्परिमितानि च॥
अधोभागे हि पातालाच्छेषनागश्च विद्यते। तस्य चाङ्के हि क्रीडन्तं शिशुरूपं रघूत्तमम्॥
तदा काको विलोक्याग्रे पृष्ठभागे पुनः शिशुम्। अग्रे पश्चाद्गतिर्नास्ति मया किं क्रियते झटिति॥
बलाद्दक्षिणतो शीघ्रं पलाये निजरक्षया। विचार्य्यैवं भुशुण्डोऽपि चोड्डीनो ह्यपसव्यतः॥
भूलोकं च पुनः प्राप तत्र माधवतीं पुरीम्। शक्रेण वीज्यमानं च निजसिंहासने परे॥
पश्चादग्रे च रामं हि वीक्ष्य काकोऽतिविस्मृतः। उड्डीतो वागतस्तस्मादिन्द्रस्य पुरभेदना॥
नगरं वीतिहोत्रस्य स जगामातिवेगतः। ददृशे तत्र रामं च वह्निना परिसेवितम्॥
रामं निशाम्य काकोऽपि शमनस्य गृहं गतः। अन्तको रामचन्द्रस्य पुरतो भाति दण्डधृक्॥
एवं वीक्ष्य तदा काको जगाम निर्ऋतेः क्षयम्। सेव्यमानं तदा तेन निर्ऋतिना रामबालकान्॥
तत्रापि न स्थितिं चक्रे पाशिनस्तु गृहं गतः। छत्रहस्तेन तेनापि सेव्यमानं च बालकम्॥
तदाश्चर्यं विलोक्याशु जगमे प्राभञ्जनं पुरम्। रत्नदण्डप्रकीर्णेन सेव्यमानं तु तेन तम्॥
क्षपाकरस्य नगरं वायसः प्राप वेगतः। भोज्यमानं तु चन्द्रेण रामं दृष्ट्वा पलायितः॥
शूलिनो नगरं गत्वा रामं दृष्ट्वातिवेगतः। उत्पपात ततश्चोर्ध्वं स्वर्गं लोकाय वायसः॥
तत्र चाग्रे हि गच्छन्तं बालकं ददृशे खगः। सत्यलोकं मनश्चक्रे गन्त पक्षी विशेषतः॥
तत्र गत्वा शिशुं राममजस्य निजसद्मनि। अजाद्यैश्चैव मुनिभिः पादयोः परिशीलितम्॥
एवं निरीक्ष्य रामं तु न कुतश्चिद् गतिः खगः। भूलोकं पुनराविश्य चात्मानं ददृशे खगः॥

दो०—ब्रह्मलोक लगि गएउँ मैं चितएउँ पाछ उड़ात।
जुग अंगुल कर बीच सब रामभुजहिं मोहि तात॥
सप्तावरन भेद करि जहाँ लगे गति मोरि।
गएउँ तहाँ प्रभु भुज निरखि ब्याकुल भएउँ बहोरि॥ ७९॥

अर्थ—मैं ब्रह्मलोकतक गया फिर उड़ते हुए पीछेकी ओर देखा तो हे तात! श्रीरामजीकी भुजामें और मुझमें कुल दो ही अंगुलका बीच था। सातों आवरणोंको भेदकर जहाँतक मेरी गति थी वहाँतक गया। वहाँ भी प्रभुकी भुजाको देखकर फिर तो मैं व्याकुल हो गया॥ ७९॥

करु०—*'ब्रह्मलोक लगि गएउँ'* इति। पृथ्वीसे ब्रह्मलोकतक जानेमें भूलोक, भुवर्लोक जो मध्यस्थ स्वर्ग है, स्वर्लोक अर्थात् इन्द्रलोक स्वर्ग, महर्लोक, जनलोक और तपलोक—ये छः लोक क्रमसे पार करनेपर

तब ब्रह्मलोक मिलता है। सत्यलोकहीमें सनकादिकका लोक, उमालोक और शिवलोक हैं। सत्यलोकसे ब्रह्माण्डके आवरणतक १६२ कोटि योजनका अन्तराय है। जिसके बीचमें ये तीनों लोक हैं। शिवलोकके बाद फिर सप्तावरण है।

नोट—१ पहले '*रामभुजहिं*' कहा, पर जब अपनी गति उस भुजाके आगे थक गयी तब समर्थवाचक '*प्रभु भुज*' पद दिया। २—'*बहोरि*' का दूसरा अर्थ 'दुबारा' लेनेपर भाव यह होगा कि ब्रह्मलोकतक पीछा किये जानेपर मैं कुछ देरके लिये व्याकुल हुआ था और जब सप्तावरण भेदनेपर भी भुजा पीछे ही लगी देखी तब फिर व्याकुल हुआ।

'जुग अंगुल कर बीच सब रामभुजहिं मोहि'

पूर्व जो कहा था कि '*हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या॥*' एवं '*भेद भगति बाढ़ै बिहंगबर*', उसकी पुष्टि '*जुग अंगुल कर बीच*' पदसे दिखा रहे हैं। अविद्या-माया प्रभुसे वियोग करा देती है और विद्या-माया सेवक-सेव्य-भावको दृढ़ कराती है। अपने और प्रभुके बीचमें केवल दो अंगुलका बीच बताकर जनाते हैं कि प्रभुने मेरा साथ कहीं भी न छोड़ा, चित्तमें मोह उत्पन्न होनेसे किञ्चित् अलग हैं पर फिर भी सहायक हैं। 'दो अंगुल' का बीच क्या है? इस विषयमें मतभेद है।

वि० टी० का मत है कि सप्तावरणको पार करनेपर राजस-तामसयुक्त प्रकृति ही दो अंगुलका बीच जीव और परमात्मामें रह जाता है। टीकाकार यह भी लिखते हैं कि जब ईश्वरता-विषयक कुछ भी संदेह ऐसे परम भक्त भी चित्तमें लाते हैं, तभी माया उन्हें फिरसे चैतन्य करनेके निमित्त कुछ समयके लिये मोहमें डाल देती है। उससे परमात्मा और उनकी आत्मामें मानो दो अंगुलका भेद-सा पड़ जाता है। वे लिखते हैं कि सूक्ष्म विचारसे इसका आशय यह है कि जब जीव अविद्यारूपी मायामें फँसकर विषय-वासनामें बहुत लीन हो जाता है तब यदि वह ईश्वरोन्मुख होना चाहे तो उसे सात आवरण या परदे दूर करनेकी आवश्यकता होती है। सप्तम आवरणको पार करनेपर जीव परमात्म-स्वरूपके समीपतक पहुँच ही जाता है। यह परमात्माकी प्रायः प्राप्ति ही समझी जाती है, पर यहाँ भी कुछ थोड़ा-सा भेद रह जाता है, यह प्रकृतिका है। प्रकृति तत्त्वमें राजस-तामसयुक्त प्रकृतिको 'शबल प्रकृति' कहते हैं। यही दो अंगुलका भेद जीवात्मा और परमात्माके बीचमें बताया गया है। इसके पार होते ही उसे वश करके सत्त्वप्रकृति '**किं शुद्ध-प्रकृतिमें**' पहुँच परमात्मा-रूपका पूर्ण सांनिध्य, ज्ञान, ध्यान व एकरूपत्व सभी हो जाता है। यथा—'**दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः**' अर्थात् सूक्ष्म रूपसे अग्रबुद्धिद्वारा सूक्ष्म बुद्धिवाले जीव परमात्माका साक्षात्कार करते हैं।—(कठोपनिषद् अ० १ तृतीयवल्ली मन्त्र १२)।

बैजनाथजीका मत है कि 'जीव भ्रमवश नौ आवरणों-(गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, अहंकार, बुद्धि, प्रकृति, शुद्ध, सत्त्व-) में पड़ गया है। विद्या माया उसे इनमेंसे निकालती है। जब सात आवरण लाँघ जाता है तब कुछ चैतन्यता आती है और वह प्रभुके सम्मुख होता है। यही यहाँ सप्तावरण भेदकर पीछे फिरकर प्रभु-भुजको निकट ही देखता है। अब प्रकृति और शुद्ध सतोगुण दो आवरण जो बाकी हैं, वही 'दो अंगुलका बीच' है। बिना प्रभुकी सम्मुखता जीवका दुःख नहीं जाता, यही व्याकुलता है। और न कहीं गये न आये, प्रभुकी प्रेरणासे यह सब कौतुक उसी ठौर देख पड़ा; क्योंकि मोहवश भ्रममात्र सब रचना है—यहाँ सूक्ष्म रूपसे महीन बात कही गयी है।'

करुणासिंधुजी लिखते हैं कि द्वैतमें श्रीरामविषे (के विषयमें) अपना अज्ञान आरोपण किया यही दो अंगुलका बीच है।

पंजाबीजी लिखते हैं कि 'न मुझे निर्भय ही करते और न कौतुक-निमित्त पकड़ते ही थे' कि पकड़ लेंगे तो कौतुक न रह जायगा। 'और परमार्थ पक्षमें दो अंगुल अहंता-ममता है' इसका 'भेद हमारे विषे है, ईश्वर विषे नहीं'। रा० प्र० कारका भी यही मत है।

गौड़जी—इस चरितमें बड़ी अपूर्व और चमत्कारिक युक्तिसे दिखाया है कि देश, काल और वस्तुके

सम्बन्धमें हमारा ज्ञान परिच्छिन्न है। वास्तविकता क्या है, इसका पता किसीको नहीं है। भगवान्‌की मायाके जालमें फँसकर जीव सापेक्ष्यभावसे जो कुछ जानता और समझता है उसीको सत्य मानता है। यद्यपि सत्य एक परमात्मा ही है और इन्द्रियजनित ज्ञान सभी असत्य है। अनन्त देश, अनन्त काल और अपरिमित वस्तु अणु-परमाणुसे भी छोटे और अणु-परमाणुमात्र देश, काल और वस्तु अनन्त और अपरिमेय हो सकते हैं, सापेक्षतासे हमें कुछ-का-कुछ दिखायी दे सकते हैं। कागभुशुण्डिने भगवान्‌की माधुर्य लीलासे मोहित हो मनमें यह शंका की थी कि *'चिदानंद संदोह'* होकर यह साधारण शिशुकी-सी लीला क्या करते हैं? कोई दूसरा जीव होता तो उसे दो घड़ीके लिये सैकड़ों जीवनोंके चक्रमें डालकर यह तमाशा दिखा देते। नारदजीको कुछ मिनटोंमें सौ वर्षके लगभगका दृश्य दिखाकर देश, काल और वस्तुकी अद्भुत सापेक्ष्यता प्रभुने प्रदर्शित की थी, परंतु नारदजीको संसृति सताती थी भुशुण्डिजीको नहीं—*'आन जीव इव संसृति नाहीं।'* फिर भुशुण्डिजीसे प्रभुका अभेद क्यों न हुआ? क्योंकि भुशुण्डिजी अपनी इच्छासे भेद-भक्तिके उपासक हैं अर्थात् जीवन्मुक्त होते हुए भी स्वामी और दासका सम्बन्ध स्थायी रखते हैं। जीवके नाते मायाके वशमें हो सकते हैं। मायाने जो भेद रखा है झूठा है, फिर भी भगवान्‌की कृपा बिना वह दृढ़ सत्यकी तरह लगता है। जब ये उड़ चले और भगवान् घुटनोंके बल दौड़के हाथ पसारे पकड़ने चले तो भुशुण्डिजी पूरी ताकत लगाकर भागने लगे। भागते-भागते सप्तावरण पार कर गये, परन्तु बराबर भगवान् और उनके हाथसे केवल दो अंगुलका अंतर रहा। अंगुल देशकी सबसे छोटी इकाई है और घड़ी कालकी इकाई है। वह इस मायाके चक्रमें अपनी जान अनेक ब्रह्माण्डोंमें घूमे और १०१ कल्पतक घूमे परंतु उनको दो घड़ीसे अधिक नहीं लगा। मुखके भीतर भी उसी तरह अनेक ब्रह्माण्डोंके चक्कर लगे जिस तरह बाहर। जो दृश्य बाहर देखा था वही भीतर। प्रभुको सदा अपने निकट पाया। प्रभुके बाहर भी उसी अनन्त विस्तारवाले जगत्‌को देखा जिस अमित विस्तारवाले जगत्‌को उनके भीतर देखा था। जिस तरह देश और कालमें इतने भारी अन्तर होते हुए भी दो अंगुल और दो घड़ीसे अधिक अन्तर न था, उसी तरह भीतर और बाहरके अनन्त ब्रह्माण्डोंके अमित विराट् वस्तुमें और अपने काकरूप और प्रभुके शिशुरूपमें इतने विशाल अन्तर होते हुए भी व्याप्य और व्यापकका उन्होंने अभेद पाया। कितना छोटा शिशुरूप भगवान्‌का है और उससे भी छोटा रूप भुशुण्डिका जो मुखमें प्रवेश कर जाते हैं। परंतु उसके इतनी छोटाईके भीतर अनन्त ब्रह्माण्डोंमें सौ कल्पतक घूमते-घूमते थक जाते हैं। कौएके छोटाईमें इतना सामर्थ्य और धैर्य, प्रभुकी छोटाईमें ऐसा बृहत् विराट् रूप, दो घड़ियोंकी छोटाईमें अनन्तकाल और दो अंगुलकी छोटाईमें अनन्त देश और विश्व समाया हुआ है। यह किसकी कल्पनामें किस प्रकार आ सकता है? क्या निर्गुण ब्रह्मकी कल्पनासे समझने लायक कोई उदाहरण दिया जा सकता है?—ऐसे गहन-विषयको जिसे आजकल सापेक्षवाद कहते हैं और जिसे यथार्थरीत्या समझ सकनेवाले संसारके विद्वानोंमें भी थोड़े हैं, दृष्टान्तद्वारा इस सगुण लीलाके सिवा कुछ भी समझमें आनेवाली बात कही नहीं जा सकती। भगवान्‌की माधुर्य लीला समझनेके लिये अत्यन्त कठिन है। कुछ थोड़ी-बहुत समझी भी जा सकती है तो इन्हीं अद्भुत चरित्रोंके सहारे।

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ। सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिजन भ्रम होइ॥'

माधुर्य चरित देखनेमें सुगम है और समझनेके लिये अगम। इतना अगम कि उसके लिये यदि शंकाका निराकरण मंजूर होता है तो नारद और भुशुण्डिजीकी तरह ज्ञानियों और भक्तोंको भी अपरिमित कष्ट उठाना पड़ता है।

वि० त्रि०—भुशुण्डिजी कहते हैं कि मैं ऊपर उड़ता ही चला गया, यहाँतक कि ब्रह्मलोकतक पहुँच गया, जिसके ऊपर कोई लोक नहीं है तब मैंने फिरकर देखा कि अब तो मैं बहुत ऊपर आ गया देखें रामजी कितने नीचे छूट गये तो मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रह गया कि मुझसे और रामजी तथा उनके भुजासे दो अंगुलमात्रका अन्तर था। भावार्थ यह कि भुजा नहीं बढ़ी। रामजी वहीं थे और भुजा भी उतनी ही बड़ी थी भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, तपलोक, सब-के-सब केवल दो अंगुलके बीचमें

ही दिखायी पड़े, अर्थात् देशका कोई नियम नहीं रह गया।

'सप्तावरन भेद करि गएउँ'

नोट—२ सत्योपाख्यानके उद्धरणसे मालूम हो गया कि वहाँ सत्यलोकहीतक भुशुण्डिजीका जाना कहा है। नीचे सप्तलोकतक पृथ्वी भेदकर गये और फिर भूलोकपर आकर ऊपरके सप्तलोक अर्थात् सत्यलोकतक गये। इतना सब वर्णन *'ब्रह्मलोक लगि गएउँ'* में आ गया। आगे जो सप्तावरण भेदकर आगे जानेका यहाँ वर्णन है, वह सत्योपाख्यानमें नहीं है।

करु०—सप्तावरण ये हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, आकाश, अहंकार और महत्तत्त्व। इन आवरणोंकी मोटाई और रंग भी पृथक्-पृथक् हैं। पृथिवीका आवरण ५० कोटि योजन मोटा, पीतरंगका। उसपर जलका आवरण ५०० कोटि योजन मोटा जमे हुए पालेकी तरह श्वेतरंगका। उसपर अग्नितत्त्वका आवरण ५००० कोटि योजन मोटा अङ्गार-सरीखा तेजोमय, लाल रंगका। उसपर ५०००० कोटि योजन मोटा पवन-आवरण जैसे बवंडर हो, हरित रंगका, फिर ५ लक्षकोटि मोटा आवरण आकाशतत्त्व महाअंधकाररूप, नीलरंगका। इसके ऊपर अहंकारतत्त्व-आवरण ५० लक्षकोटि योजनका मोटा है जो श्वेत-पीत-काला-मिश्रित संकर रंगका है।……इन सातों आवरणों करके ब्रह्माण्ड गोला है, तहाँ सातों आवरण मिले हैं, इनमें अन्तराय नहीं है। इन सप्तावरणोंके भेदनेपर ब्रह्माण्डके पार होते हैं। ब्रह्माण्ड भेदनेपर महाविष्णुलोक है, फिर महाशम्भुलोक (आदिज्योति), फिर महावैकुण्ठ (वासुदेवलोक जहाँ चतुर्व्यूह रहते हैं), तब गोलोक है जिसके मध्यमें श्रीअयोध्या है।—(करुणासिंधुजीका मत है कि भुशुण्डिजी अयोध्यातक पहुँचे)

ये सप्तावरण ब्रह्माण्ड जहाँ समाप्त होता है वहाँसे प्रारम्भ होते हैं। और क्रमसे एकके ऊपर दूसरा, दूसरेपर तीसरा इत्यादि रीतिसे हैं। ब्रह्माण्डके भेदनके बाद इन सप्तावरणोंका भेदन जब हो जाय तब जीव ब्रह्माण्डके पार होता है। सप्तावरणके बाद फिर कुछ लोक हैं और उनके बाद विरजा है।

नोट—३ ☞ *'जहाँ लगे गति मोरि'* कहकर जनाया कि सप्तावरण भेदकर विरजातक पहुँचे। इसके बाद फिर जीवकी गति नहीं है कि जाकर लौट आवे। विरजापार प्रभुका नित्य परमधाम साकेत है। जहाँ जाकर *'फिर नहिं फिरइ'*, यथा—'**ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।**' (छां० ८। १५। १) '**अनावृत्तिः शब्दात्**' इति सूत्रे और '**यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।**' (गीता १५। ६)

४—सप्तावरण और उसका भेदन इस प्रकार है—तामस अहंकार तत्त्वोंका आदि कारण है। अहंकार रूपान्तरको प्राप्त होकर प्रथम आकाश-तत्त्वको प्रकट करता है। इस आकाशकी तन्मात्रा और गुण ही शब्द है। आकाशतत्त्वके रूपान्तर होनेसे वायुतत्त्व उत्पन्न हुआ जिसका गुण स्पर्श है; पर आकाशका रूपान्तर होनेसे इसमें आकाशका गुण शब्द भी है। इसी प्रकार वायुके रूपान्तरसे (शब्द, स्पर्श और) रूपगुणयुक्त तेज (अग्नि), अग्निसे (शब्द, स्पर्श, रूप और) रसगुणयुक्त जलतत्त्व और जलसे (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और) गन्धगुणयुक्त पृथ्वीतत्त्व उत्पन्न हुआ।*

भेदन इस प्रकार कहा जाता है कि प्रथम पृथ्वीतत्त्व पड़ता है, इसका निजगुण गन्ध है, गन्धगुणको जीतनेसे पृथ्वीतत्त्वका भेदन होता है अर्थात् फिर केवल शब्द, स्पर्श, रूप और रसका जीतना रह जाता है। पृथ्वीतत्त्वसे पार होनेपर फिर जलतत्त्व पड़ता है जिसका निजगुण रस है, इस रसगुणको जीतनेसे जलतत्त्व-भेदन हुआ। इसी तरह क्रमसे रूप, स्पर्श और शब्दके जीतनेसे अग्नि, वायु और आकाश-क्रमसे भेदन हो जाते हैं इनके बाद अहंकार और शुद्ध सत्त्वके जीतनेसे अहंकार और महत्तत्त्वका भेदन क्रमसे होता है।

---

* भा० २। ५—'तामसादपि भूतादेर्विकुर्वाणादभून्नभः। तस्य मात्रा गुणः शब्दो लिङ्गं यद्द्रष्टृदृश्ययोः॥ नभसोऽथ विकुर्वाणादभूत्स्पर्शगुणोऽनिलः। परान्वयाच्छब्दवांश्च प्राण ओजः सहो बलम्॥ वायोरपि विकुर्वाणात्कालकर्मस्वभावतः। उदपद्यत तेजो वै रूपवत्स्पर्शशब्दवत्॥ तेजसस्तु विकुर्वाणादासीदम्भो रसात्मकम्। रूपवत्स्पर्शवच्चाम्भो घोषवच्च परान्वयात्॥ विशेषस्तु विकुर्वाणादम्भसो गन्धवानभूत्। परान्वयाद्रसस्पर्शशब्दरूपगुणान्वितः॥' (२५—२९)

मूदेउँ नयन त्रसित जब भएऊँ*। पुनि चितवत कोसलपुर गएऊँ॥ १॥
मोहि बिलोकि रामु मुसुकाहीं। बिहँसत तुरत गएउँ मुख माहीं॥ २॥
उदर माँझ सुनु अंडजराया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया॥ ३॥

शब्दार्थ—**अंडज**=अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले जीव=पक्षी।

अर्थ—जब मैं भयभीत हो गया तब मैंने नेत्र बंद कर लिये। फिर आँख खोलते ही अवधपुरी पहुँच गया॥ १॥ मुझे देखकर श्रीरामचन्द्रजी मुस्कुराने लगे। उनके हँसते ही मैं तुरंत उनके मुखमें चला गया॥ २॥ हे पक्षिराज! सुनिये। मैंने उनके पेटमें बहुत-से ब्रह्माण्डसमूह देखे†॥ ३॥

नोट—१ *'मूदेउँ नयन त्रसित जब भएऊँ'* इति। (क) डरे यह कि मेरी गति जहाँतक थी वहाँतक गया अब कहाँ जाऊँ, ये तो मेरे पीछे सर्वत्र लगे, मैंने बिना सोचे यह क्या विपत्ति अपने हाथों अपने सिर ढा ली, अब तो कहीं शरण नहीं, इनसे कहाँ जाकर बचूँ? (ख) *'जब भएऊँ'* से सत्योपाख्यानकी कथा जना दी कि अपने बलके अभिमानपर पूप छीनकर भागे थे। जब अपना सारा पुरुषार्थ कर लिया, जितनी गति थी वहाँतक सब बचतका उपाय कर लिया, तब निराश हो गये। (ग) *'त्रसित जब भएऊँ'* का भाव कि अब निराश हो गये, यथा—*'भा निरास उपजी मन त्रासा। जथा चक्रभय रिषि दुरबासा॥'* (३। २। ३) (घ) डरसे नेत्र मूँद लिये कि वह दृश्य अब न देख पड़े यथा—*'देखि सती अति भई सभीता। हृदय कंप—नयन मूँदि बैठी मग माहीं।'* (१। ५५। ५-६)

२—*'पुनि चितवत कोसलपुर गएऊँ।'* का भाव कि नेत्र बंद करनेपर वह लीला प्रभुने समाप्त कर दी जैसे कि सती-मोह-प्रकरणमें *'नयन मूँदि बैठी मग माहीं। बहुरि बिलोकेउ नयन उघारी॥ कछु न दीख तहँ दच्छ कुमारी।'* (१। ५५। ६-७) नेत्र बंद करते ही कोसलपुर पहुँचा दिया, यह प्रभुकी लीला है; जैसे स्वयंप्रभाने वानरोंको विवरसे सिंधुतटपर पहुँचा दिया, यथा—*'नयन मूँदि पुनि देखहिं बीरा। ठाढ़े सकल सिंधु के तीरा॥'* (४। २५। ६) ☞इस तरह नेत्र बंद करना, खोलना कहकर जहाँतक दूसरे दृश्यका प्रारम्भ जनाया गया है। निराशाके बाद आशा, दुःखके बाद सुख।

३—*'मोहि बिलोकि रामु मुसुकाहीं'* इति। (क) मुसुकानेका भाव कि कहो अपना पुरुषार्थ सब कर लिया, हमारी परीक्षा मिली कि अभी बाकी है? कहाँ भागकर जाओगे? हम यहीं घेर लाये न? भागते थे, यहाँ कैसे फिर पहुँच गये? पुनः, (ख) आपका हास्य माया है। अब अपनी और माया दिखाते हैं। पुनः, (ग) हास्य कृपा है। *'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥'* (१। १९८। ७) कृपा करके अपना ऐश्वर्य दिखाकर सदाके लिये मोहसे निवृत्त करेंगे। पुनः, (घ) हँसकर जनाया कि दूसरा चरित करेंगे। जैसे माताको पहले एक चरित दिखाकर कि *'इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा'* तब चरित बदलनेके लिये हँसे थे, यथा—*'प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी। देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड॥'* (१। २०१) वैसे ही यहाँ पहले 'बिहँसि' कर इतना चरित दिखाया—*'बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा'* और अब 'मुसुकाकर' अपना 'अखण्ड अद्भुत रूप दिखायेंगे। चरित बदला, अतः हँसे।'

रा० प्र०—देखकर मुस्करा रहे हैं। यह बालभाव प्रकट करते हैं। अथवा, मेरी दशा समझकर हँसे।‡

नोट—४ 'जयन्त मारा-मारा फिरा तब इन्द्र-ब्रह्मादिका उसे शरण न देना कहा और भुशुण्डिजीके

---

* भएउँ—(का०) गएउँ—(का०)

† 'एवं निरीक्ष्य रामं तु न कुतश्चिद्गतिः खगः। भूलोकं पुनराविश्य चात्मानं ददृशे खगः॥' (सत्यो० २२)

‡ पं०—'हँसनेका भाव कि अपने बलपर भागा था कहाँतक पहुँचा? तब मैं प्रभुके मुखमें घुस गया।'—प्रसंगमें तो अर्थ यही है और चारों चरणोंका अर्थ ऐसा भी बनता है—'भगवन्तके भयसे नेत्र मूँदना अन्तर्मुख दृष्टि करना है; फिर 'चितवना' अपने स्वरूपको 'चितवना' इस प्रकार कि ऐसे ही जीव कोशलपुरी अर्थात् सर्वसुखोंका जो पुर है उसे प्राप्त करता है, तब प्रभुके हास अर्थात् प्रसन्नताके द्वारा प्रभुके अन्तरलीन अर्थात् स्वरूपमें अभेद होता है।'

विषयमें यह बात न कही?' इसमें एक भाव यह है कि जयन्त अपना रूप धारण करके सब लोकोंमें गया और सबसे शरण चाही और भुशुण्डिजी लघु वायसरूपसे ही सर्वत्र जा रहे हैं, अव्याहतगति है, इनको कोई देखता नहीं है। दूसरे ये किसीके पास नहीं जाते, दूरसे ही बालक रामको, उनके हाथको, देखकर उड़ते ही जाते हैं। ☞ इस भेदसे इनका श्रीरामानन्य होना जनाया है। सत्योपाख्यानकी कथाके अनुसार उन्होंने प्रत्येक लोकमें देखा कि बालक राम स्थित हैं और वहाँ उनकी सेवा हो रही है यह दूरसे देखते ही वे वहाँसे चल देते थे। यह उनपर प्रभुकी कृपा दिखायी कि उन्होंने दूसरेकी शरण नहीं जाने दिया; क्योंकि दूसरेका सहारा लेनेसे जीवका स्वरूप बदल जाता है, अनन्यता जाती रहती है।

५ ☞ *'बिहँसत तुरत गएउँ मुख माहीं।'*—इसी प्रकार मार्कण्डेयऋषिको जब प्रभुने माया दिखायी है तब उनके विषयमें कहा गया है कि बालक भगवान्‌के पास पहुँचते ही वे बरबस बालककी श्वासाके साथ मच्छरके समान उड़ते हुए उनके मुखमें घुस गये—**'तावच्छिशोर्वै श्वसितेन भार्गवः सोऽन्तश्शरीरं मशको यथाविशत्'** (भा० १२। ९। २७)। और भगवान्‌के उदरमें सारा विश्व देखकर अन्तमें फिर श्वासोके साथ बाहर निकलकर गिरे।

६ ☞ *'उदर माँझ सुनु अंडजराया'*, यह इस प्रसंगमें तीसरी बार 'सुननेको' कहकर जनाया कि पूर्व प्रसंग समाप्त हुआ, नया चरित प्रारम्भ हुआ। पूर्व-चरितका प्रारम्भ *'बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा।'* (७९। ४) पर है और *'मोहि बिलोकि रामु मुसुकाहीं। बिहँसत तुरत गएउँ मुख माहीं॥'* पर उपसंहार है। 'अंडजराया' शब्दकी मैत्रीसे यहाँ अंडजराया विशेषण दिया गया।

रा० प्र०—*'अंडजराया।'* अंडजसे ब्रह्माण्डरियायत कि तुम एक अंडासे हो और उदरमें झुंड-के-झुंड ब्रह्माण्ड हैं।

अति बिचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका॥ ४॥
कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उड़गन रबि रजनीसा॥ ५॥
अगनित लोकपाल जम काला। अगनित भूधर भूमि बिसाला॥ ६॥
सागर सरि सर बिपिन अपारा। नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा॥ ७॥
सुर मुनि सिद्ध नाग नर किन्नर। चारि प्रकार जीव सचराचर॥ ८॥

अर्थ—वहाँ (उन ब्रह्माण्डोंमें) अत्यन्त विलक्षण अनेक लोक देखे, एक-से-एककी रचना बढ़कर थी॥ ४॥ करोड़ों ब्रह्मा और शिव, अगणित तारागण, सूर्य और चन्द्रमा॥ ५॥ अगणित लोकपाल, अगणित यम, अगणित काल, अगणित विशाल पर्वत और बड़ी विस्तृत पृथ्वी॥ ६॥ असंख्यों समुद्र, नदी, तालाब और वन जिनका वारापार नहीं और भी अनेक प्रकारकी सृष्टिका फैलाव देखा॥ ७॥ देवता, मुनि, सिद्ध, नाग, नर, किन्नर और जड़-चेतनसहित चारों प्रकारके जीव देखे॥ ८॥

नोट—१ (क) *'कोटिन्ह' 'अगनित' 'नाना भाँति'* इत्यादिसे जनाया कि प्रत्येक ब्रह्माण्डमें ये सब एक-एक थे।' *'बहु ब्रह्मांड निकाया'* के सम्बन्धसे *'कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा', 'अगनित रबि रजनीसा', 'अगनित लोकपाल जम काला', 'अगनित भूमि'* कहा। कारण कि एक-एक ब्रह्माण्डमें एक-ही-एक ब्रह्मा, शिव, सूर्य, चन्द्र इत्यादि होते हैं। (ख) *'लोक अनेका'* इति। जैसे इस ब्रह्माण्डमें तीन लोक, चौदह भुवन, वैसे ही औरोंमें भी अनेक लोक थे। यहाँ गिनतीमें हैं, वहाँ अगणित थे। *'रचना अधिक एक ते एका'* का भाव कि एक लोक देखता दूसरा उससे बढ़कर देखता था, एकसे कोई न थे।

२—*'जम काला'* इति। काल और यममें अधिकार-भेद है। इसीसे ग्रन्थमें इनको अलग-अलग कहा गया है। यथा—*'भुजबल जितेहु काल जम साईं।'* (लं० १०३। ८), *'अगिनि काल जम सब अधिकारी।'* (बा० १८२), *'भृकुटि बिलास भयंकर काला।'* (लं० १५। २), *'अधर लोभ जम दसन कराला।'* (लं०। १५। ५), *'बरुन कुबेर पवन जम काला। भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला॥'* (लं० ८। ३), *'काल कोटिसत सरिस अति दुस्तर*

दुर्ग दुरंत।' (९१), *'समन कोटिसत सरिस कराला।'* (९२।१) ये दोनों लोकपाल हैं। एकको भगवान्‌का *'भृकुटि बिलास'* और दूसरेको *'दशनकराल'* कहा है। यमराज ईश्वरसे नियुक्त किये हुए दक्षिण दिशामें एक प्रकारके देवता हैं जो प्राणियोंके भले और बुरे कर्मोंके अनुसार दण्ड देनेवाले हैं। कालका अधिकार यमसे भी अधिक है, यह तो यमरूपी कालका भी काल है, उससे भी समर्थ है। पं० रामकुमारजी खर्रेमें लिखते हैं कि 'काल समयाभिमानी देवता यद्वा नाशके देवता हैं, यम संयमनकारक हैं।'

३—*'नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा।'*—भा० १२। ९ में श्रीमार्कण्डेयमुनिको बालकरूप मुकुन्दभगवान्‌के उदरमें जो कुछ देख पड़ा वह सब इस पदसे जना दिया गया। यथा—**'खं रोदसी भगणानद्रिसागरान्द्वीपान्सवर्षान्ककुभः सुरासुरान्। वनानि देशान्सरितः पुराकरान्खेटान्व्रजानाश्रमवर्णवृत्तयः॥ महान्ति भूतान्यथ भौतिकान्यसौ कालं च नानायुगकल्पकल्पनम्। यत्किंचिदन्यद्व्यवहारकारणं ददर्श विश्वं सदिवावभासितम्॥'**(२८-२९)

'द्वीप' सब खण्ड, सब दिशाएँ, देवगण, असुरगण, सब वन, सब देश, सब नदियाँ, नगरनिचय, आकर, समूह, व्रजसमूह, चारों आश्रम, चारों वर्ण और उनकी सब वृत्तियाँ, पञ्चतत्त्व, सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ, खेट-पुर-ग्राम आदि, युग-कल्प आदि अनेक भेदोंसे भिन्न-भिन्न संज्ञाओंको प्राप्त सब प्रकारका काल एवं और भी लोक-व्यवहारके कारणभूत अन्यान्य अनेक पदार्थ मुनिने मुकुन्दभगवान्‌के उदरमें देखे।

४—*'सुर मुनि सिद्ध नाग नर किन्नर'* कहकर *'चारि प्रकार जीव……'* कहनेका भाव कि ये सब अण्डजादि चार खानिके जीवोंसे पृथक् हैं। बा० ८ (१), बा० ४६ (४), उ० ४४ (४) देखिये।

दो०—जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूँ न समाइ।
सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ॥
एक एक ब्रह्मांड महुँ रहौं बरष सत एक।
एहि बिधि देखत फिरौं मैं अंडकटाह अनेक॥८०॥

अर्थ—जो कभी न देखा था न सुना और जो मनमें भी न समा सके, वह सब अपूर्व आश्चर्य देखा (तब वह) किस प्रकार वर्णन किया जाय। एक-एक ब्रह्माण्डमें मैं एक-एक सौ वा एक सौ एक वर्ष रहता; इस प्रकार मैं अनेक ब्रह्माण्ड देखता फिरा॥ ८०॥

नोट—१ *'जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूँ न समाइ'* से वह सब जना दिया जो अन्यत्र प्रभुने अपने भक्तोंको दिखाया है और जो ऊपर वर्णनमें नहीं आया। पुनः, *'देखा नहिं सुना'* से कौसल्याजीको जो दर्शन कराया था वह भी जना दिया, पहले लिख चुके हैं, अतः दुहराया नहीं, संकेतसे जना दिया। यथा—*'काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ॥ देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी॥ देखा जीव नचावै जाही। देखी भगति जो छोरै ताही॥'* (१। २०२। २—४)

रा० प्र०—*'देखा'* आँखोंसे और सुना सर्वज्ञ देवताओं, ऋषियों तथा ग्रन्थोंसे। *'मनहूँ न समाइ'* का भाव कि मनकी गतिसे बाहर था, मनहीतक संसार है उसमें भी नहीं समाया कि अनुमान कर सकूँ। अर्थात् जो देखा वह सब अनुमानके बाहरकी बातें हैं।

पं०—मनमें भी न समानेका भाव कि उनकी रचना और उनकी उत्पत्ति इत्यादि चित्तमें नहीं आ सकती।

वै०—'सौ सौ वर्ष रहा' से जनाया कि मैंने एक-एक अच्छी तरह देखा।

वि० त्रि०—एक-एक ब्रह्माण्डमें एक सौ एक वर्ष रहे, इस प्रकार एक सौ एक कल्प बीते। मनुष्योंके एक वर्षका देवताओंका एक दिन होता है और देवताओंके एक हजार वर्षका एक कल्प होता है। प्रत्येक कल्पके अन्तमें नैमित्तिक प्रलय होता है, जिससे तीनों लोकोंका प्रलय हो जाता है। ऐसे-ऐसे एक सौ एक कल्पतक भुशुण्डिजी ब्रह्माण्डोंकी सैर करते फिरे। कुछ ठिकाना नहीं कितने समयतक और कितने ब्रह्माण्डकी इन्होंने यात्रा की।

लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता॥ १॥
नर गंधर्व भूत बेताला। किन्नर निसिचर पसु खग ब्याला॥ २॥
देव दनुज गन नाना जाती। सकल जीव तहँ आनहि भाँती॥ ३॥
महि सरि सागर सर गिरि नाना। सब प्रपंच तहँ आनै आना॥ ४॥

अर्थ—लोक-लोकमें भिन्न-भिन्न ब्रह्मा, भिन्न-भिन्न विष्णु, शिव, मनु, दिग्पाल, मनुष्य, गन्धर्व, भूत, वेताल, किन्नर, राक्षस, पशु, पक्षी, व्याल, नाना जातिके देवता और दैत्यगण और भी अनेक जातिके सभी जीव वहाँ दूसरे-ही-दूसरे प्रकारके थे॥ १—३॥ अनेक पृथ्वी, नदी, समुद्र, तालाब, पर्वत और सभी (पाञ्चभौतिक) सृष्टि वहाँ अन्य-ही-अन्य थी॥ ४॥

नोट—१ *'भिन्न'* अर्थात् वही एक सब लोकोंमें नहीं थे वरन् प्रत्येकमें अलग-अलग थे। जैसे एकमें थे, उससे दूसरी प्रकारके दूसरेमें थे। ब्रह्मा कहीं चतुर्मुख कहीं पञ्चमुख, विष्णु और शिव कहीं गौरवर्ण कहीं श्यामवर्ण इत्यादि भेदके थे। ☞ *'आनहि भाँती'* और *'आनै आना'* में भी यही दोनों भाव हैं।

रा० प्र०—१ *'नाना जाती' 'आनहि भाँती।'* भाव कि सामान्य या थोड़ा देशान्तर होनेसे आकृति, स्वभाव, बोल-चाल आदिमें भेद (हो जाता है), जहाँतक 'अदिव्य भी' पहुँचते देख पड़ता है। जैसे जहाँ शीत अधिक होता है वहाँ प्रायः पशु आदि अधिक लोमपुच्छवाले होते हैं और जहाँ अधिक गर्मी होती है वहाँ इसका उलटा होता है। जैसा जिस देशका स्वभाव, आकृति आदि विशेष होता है वैसी ही उसके अनुकूल सामग्री भी उस देशमें होती है। इसीसे एक-से-दूसरा विचित्र होता है।—(भारतवर्ष स्वयं इसका छोटा-सा एक उदाहरण है)। २—*'महि सरि सागर......'* इति। दूसरे रीतिकी यह कि उसकी मृत्तिका वा बालू आदि दूसरे रंग-ढंगकी है। नदीमें किसीमें गर्म जल किसीमें ठण्डा, कहीं खारा, कहीं मीठा, पर्वत कहीं धातुमय, कहीं बिना पाषाणके इत्यादि।

अंडकोस प्रति प्रति निज रूपा। देखेउँ जिनस अनेक अनूपा॥ ५॥
अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरजू भिन्न भिन्न नर नारी॥ ६॥
दसरथ कौसल्या सुनु ताता। बिबिधरूप भरतादिक भ्राता॥ ७॥
प्रति ब्रह्माण्ड राम अवतारा। देखौं बाल बिनोद अपारा*॥ ८॥

शब्दार्थ—**निनारी**=पृथक्, न्यारी, अलग। '**अंडकोस**'=ब्रह्माण्डके भीतरका भाग ब्रह्माण्ड, यथा—*'**अंडकोस** समेत गिरि कानन।'* (५। २१। ६) **जिनस (जिन्स)**=पदार्थ।

अर्थ—प्रत्येक ब्रह्माण्ड-ब्रह्माण्डमें अपना रूप देखा और अनेक अनुपम पदार्थ देखे॥ ५॥ प्रत्येक भुवनमें पृथक्-पृथक् अवधपुरी, भिन्न सरयू और भिन्न-भिन्न स्त्री-पुरुष थे॥ ६॥ हे तात! सुनिये। श्रीदशरथजी, श्रीकौसल्याजी और श्रीभरतादिक भाई अनेक रूपके थे॥ ७॥ प्रत्येक ब्रह्माण्डमें मैं रामावतार और अपार बालकेलि देखता फिरता था॥ ८॥

नोट—१ *'जिनस अनेक'* इति। जिन्स फारसी शब्द है जिसका अर्थ है—'सामग्री, वस्तु, चीज', 'प्रकार', 'किस्म'। प्रकार अर्थमें *'जिनस अनेक'* 'निजरूपा' का विशेषण होगा। 'वस्तु' अर्थमें 'निजरूप' से पृथक् अन्य वस्तुओंके देखनेका अर्थ होगा। पाँड़ेजी एवं वि० टी० *'जिनस अनेक अनूपा'* से 'नीलगिरि आदि अपने निवास-स्थानके बहुत-से चिह्न देखना' कहते हैं। पर यहाँ प्रसङ्ग अवधपुरी और रामावतार एवं बालविनोद देखनेका है, इससे इनके आश्रमके चिह्नसे यहाँ तात्पर्य नहीं जान पड़ता। इसकी पुष्टि इससे भी होती है कि आश्रम देखना आगे कहा है, यथा—*'फिरत फिरत निज आश्रम आएउँ।'* पंजाबीजी

* उदारा—(का०)। भा० दा० में 'सरऊ' और का० में 'सरजू' है।

तथा बैजनाथजी लिखते हैं कि *'जिनस अनूप'* का भाव है कि 'सब ब्रह्माण्डोंमें भुशुण्डि थे। और-और रूप-रंग-सूरतके होनेसे *'जिनस अनेक'* कहा और जैसा रूप एकमें था वैसा दूसरेमें न था, अतः अनूप कहा।' श्रीकरुणासिंधुजी 'अनेक जिन्स अनूप-अनूप देखे', ऐसा अर्थ करते हैं।

मा० शं०—*'बिबिधरूप भरतादिक भ्राता'* इति। शङ्का—'भाइयोंका तो नित्य अखण्ड एकरस रूप साकेतमें रहता है और यहाँ विविधरूपसे अनित्यता पायी जाती है? समाधान १—मायावश लीलामात्र अनेक रूप देख पड़े, यथार्थमें एक ही रूप है। वा, २—भुशुण्डिजीकी दृष्टिका दोष है, उनको अज्ञानसे अनेक रूप देख पड़े। वा, ३—उनको मोह केवल राममें हुआ था। इसलिये प्रभुने अपना एक रूप और औरोंका अनेक रूप दिखाकर अपना ऐश्वर्य उनको जनाया।'

करुणासिंधुजी—'अयोध्या और अयोध्यावासियोंको नित्यविभूतिके नित्य जीव देखे' पर जीव-धर्मसे आकृति भिन्न-भिन्न देखी। और 'अपर प्रकृतिमय जीव देखे' (अर्थात् और जितने जीव देखे वे प्रकृतिमय थे)।

पं०—*'सरजू भिन्न……'* अर्थात् उनकी रचना और दिशा आदिमें भी भेद था। *'बिबिधरूप'* अर्थात् वर्ण और अवस्थाके भेद उनमें थे। *'राम न देखेउँ आन'*—एक ही रूप दिखाकर अपनेमें कारणत्व सूचित किया और ब्रह्मादिकके अनेक भाँतिके स्वरूप दिखाकर उनमें 'कार्यता' लखायी।

नोट—*'अपारा'* के दो भाव हैं—एक कि बहुत प्रकारके बाल-विनोद, यथा—*'लघु बायस बपु धरि हरि संगा। देखेउँ बालचरित बहुरंगा॥'* दूसरे, कि उन चरितोंका पार पाना, उनका समझना इत्यादि कठिन है—*'एक बार अतिसै सब चरित किये रघुबीर।'*

दो०—भिन्न भिन्न मैं दीख सबु* अति बिचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन॥
सोइ सिसुपन सोइ सोभा सोइ कृपाल रघुबीर।
भुवन भुवन देखत फिरौं प्रेरित मोह समीर†॥८१॥

अर्थ—हे हरिवाहन! मैंने सब भिन्न-भिन्न और अत्यन्त विचित्र देखा। हे प्रभो! मैं अगणित भुवनोंमें फिरा पर प्रभु श्रीरामचन्द्रजीको अन्य प्रकारका न देखा। मोहरूपी पवनसे प्रेरित मैं भुवन-भुवनमें वही बालपन, वही शोभा और उन्हीं दयालु रघुवीरको देखता-फिरता था।

नोट—१ *'हरिजान'* का भाव कि आप तो सर्वत्र वाहनरूपसे उनके साथ रहते हैं, रहस्यके अधिकारी हैं, एवं यदि आपने कहीं दूसरी प्रकारका रूप देखा हो तो बताइये। २—*'फिरौं प्रेरित मोह समीर।'* भाव कि मोहके ही कारण मैं मारा-मारा फिरा, विश्राम कहीं न पाया। मोहहीसे यह चरित हुआ, यथा—*'प्राकृत सिसु इव लीला देखि भयउ मोहि मोह।'* उसीपर मायाने मुझे इतना चक्कर दिलाया।

भ्रमत मोहि ब्रह्मांड अनेका। बीते मनहुँ कलप सत एका॥१॥
फिरत फिरत निज आश्रम आएउँ। तहँ पुनि रहि कछु काल गँवाएउँ॥२॥
निज प्रभु जन्म अवध सुनि पायउँ। निरभर प्रेम हरषि उठि धायउँ॥३॥

---

* 'सबु दीष मैं'—(का०)।

† 'सरीर'—(का०), समीर—(रा० गु० द्वि०, भा० दा०, करु०)। श्री पं० रा० व० श० जी 'समीर' पाठ उत्तम मानते हैं। 'प्रेरित मोह सरीर' का अर्थ खर्रेमें 'मोहसे प्रेरित हुआ है शरीर जिसका ऐसा होकर', यह दिया है। रा० प्र० में 'मोह शरीर राममाया प्रेरित भुवन-भुवन फिरा' यह अर्थ है। अर्थ यों भी कर सकते हैं कि 'मोहसे प्रेरित किये हुए शरीरसे मैं देखता-फिरता था' तथा 'मैं देखता-फिरता था', मेरा शरीर मोहसे प्रेरित था। 'समीर' पाठ इससे उत्तम है कि पवनका झकोरा चलता है, इससे अनेक वस्तु उड़ते-फिरते हैं ही। इसमें रूपकालङ्कार है।

अर्थ—अनेक ब्रह्माण्डोंमें भ्रमते-फिरते मुझे मानो एक सौ (एवं एक सौ एक) कल्प बीत गये॥ १॥ फिरता-फिरता मैं अपने आश्रममें आया और वहाँ फिर रहकर कुछ समय बिताया॥ २॥ अवधमें अपने प्रभुका जन्म सुन पाया तब परिपूर्ण प्रेमसे हर्षपूर्वक मैं उठ दौड़ा॥ ३॥

नोट—१ *'बीते मनहुँ'* का भाव कि वस्तुतः ऐसा न था, मायासे ऐसा जान पड़ा कि इतने कल्प बीत गये। मनका ही वेग बहुत बड़ा होता है, उसमें वर्ष-के-वर्ष क्षणमात्रमें बीत जाते हैं और यहाँ तो मायाका भी प्रबल झकोरा साथ है। इसी तरह शोक और सुखमें एक क्षण कल्प-सम और वर्ष-के-वर्ष क्षणमात्र भासित होते हैं।—विशेष दोहा ८२ में देखिये।*

२—*'कछु काल'* इति। भुशुण्डिजी चिरंजीवी हैं, इनको युग-के-युग प्रहरके समान बीतते हैं; अतः *'कछु काल'* कहा। पुनः, भाव कि मायाका खेल था, इसीसे कुछ ही समय रहनेपर फिर जन्म सुना मानो एक कल्प बीत गया। *'काल गँवाएउँ'* का भाव कि वहाँ भी विश्राम न मिला, जैसे-तैसे समय बिताया, इसीसे 'गँवाया' कहा अर्थात् वह समय व्यर्थ-सा ही गया, संदेह और चिन्ताहीमें समय बीता। (पं०)

३—*'निरभर प्रेम हरषि उठि धायउँ'* इति। (क) रा० प्र० कार लिखते हैं कि *'उठि धायउँ'* से लक्षित होता है कि मनुजरूपसे उठ धाये; यथा—*'मनुज रूप जानै नहिं कोऊ।'* (१। १९६) तथा इस चरितमें अति प्रेम दरसाया।

(ख) ☞ इससे जनाया कि मोह होनेपर भी भुशुण्डिजीकी अनन्य उपासना दृढ़ ही बनी रही। ☞ *'सो माया न दुखद मोहि काहीं'* जो प्रारम्भमें कहा था उसको यहाँ स्पष्ट किया है। नारदजी मोहमें उपासनाके प्रतिकूल कर्म कर बैठे थे, अपने इष्टदेवको कठोर दुर्वचन कह बैठे थे, इसीसे वहाँ *'सुनहु कठिन करनी तेहि केरी'* कहा था। भुशुण्डिजी मायाके चक्करमें पड़े हुए भी पूर्वोत्साहसे अवध जा रहे हैं।

रा० शं० श०—*'सुनि पायउँ'*—किससे सुना? ब्रह्मादि देवताओंसे; यथा—*'सो अवसर बिरंचि जब जाना। चले सकल सुर साजि बिमाना॥ गगन बिमल संकुल सुर जूथा। गावहिं गुन गंधर्व बरूथा॥'* (१। १९१। ५-६)

देखेउँ† जन्ममहोत्सव जाई। जेहि बिधि प्रथम कहा मैं गाई॥ ४॥
राम उदर देखेउँ जग नाना। देखत बनइ न जाइ बखाना॥ ५॥
तहँ पुनि देखेउँ राम सुजाना। मायापति कृपाल भगवाना॥ ६॥
करौं बिचार बहोरि बहोरी। मोह कलिल‡ ब्यापित मति मोरी॥ ७॥
उभय घरी महँ मैं सब देखा। भएउँ श्रमित मन मोह बिसेषा॥ ८॥

शब्दार्थ—कलिल **'यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥'** (गीता २। ५२) पर भाष्य करते हुए श्रीशङ्करस्वामीने 'मोहकलिल' का अर्थ **'मोहात्मकं अविवेकरूपं कालुष्यं येन आत्मानात्मविवेकबोधं कलुषीकृत्य विषयं प्रति अन्तःकरणं प्रवर्तते'** किया है। अर्थात् मोहात्मक अविवेकरूप कालुष्य जिसके द्वारा आत्म और अनात्मका विवेक बोध कलुषित होकर विषयकी ओर अन्तः-करण प्रवृत्त हो जाता है। श्रीबालगङ्गाधर तिलकने 'मोहका गँदला आवरण' अर्थ किया है। वन्दनपाठकजी पं० रामगुलाम द्विवेदीका टिप्पण इस प्रकार लिखते हैं—**'कलिलं बुद्धिकालुष्यं बुद्धिगतम्।'** श्रीधरस्वामीजी अर्थ करते हैं—**'मोहकलिलं मोहमयगहन दुर्गम्'** अर्थात् मोहमय दुर्गम वन। आप्टेने 'राशि, समूह (a large

* रा० प्र०—१ 'मनहुँ' से उत्प्रेक्षा सूचित की। वा, २-इन्द्रियादिकी क्या कथा परम वेगवान् मन भी इतने अल्पकालमें नहीं पहुँच सकता। अर्थात् 'वह कालकी यम-यातना-सी भैरवी थोड़े ही कालमें होती है।'

† देखौं—भा० दा०। देखेउ—(का०)।

‡ कलिल—रा० गु० द्वि०, का०। कलित—भा० दा०। करु०। रा० प्र०। रा० प्र० ने 'कलित' का अर्थ 'नवीन' किया है।

heap) तथा गड़बड़ (confusion)' अर्थ दिया है। उदाहरणमें '**विशसि हृदयक्लेशकलिलम्**' (भर्तृहरि ३। ३४ और गीता २। ५२) दिया है। रा० प्र० ने 'विकार', पं० ने 'लहरें और मलिनता' और शीलाने 'कीचड़' अर्थ किया है। कालुष्यका अर्थ मलिनता, कीचड़ इत्यादि मिलता है। श० सा० में 'मिला-जुला। ओत-प्रोत। मिश्रित। २—गहन, घन, दुर्गम। ३—समूह, ढेर।' अर्थ दिया है।

अर्थ—जाकर जन्ममहोत्सव देखा जिस प्रकार मैंने पहिले विस्तारसे कहा है॥ ४॥ श्रीरामचन्द्रजीके पेटमें मैंने बहुत-से जगत् देखे जो देखते ही बनते थे, बखान नहीं किये जा सकते॥ ५॥ मैंने वहाँ भी सुजान, मायापति, कृपालु, भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको देखा॥ ६॥ मैं बारम्बार विचार करता था। मेरी बुद्धि मोहरूपी कीचड़ व मोहके गँदले आवरणसे व्याप्त थी॥ ७॥ दो ही घड़ीमें मैंने सब देखा। मनमें विशेष मोह होनेसे मैं थक गया॥ ८॥

नोट—१ '***जेहि बिधि प्रथम कहा***—' इति। '***जन्ममहोत्सव देखउँ जाई।***' (७५। ४) से '***प्राकृत सिसु इव लीला देखि***—।' (७७) तक पूर्व जो वर्णन किया है, वही '***जेहि बिधि प्रथम कहा मैं गाई***' से सूचित कर दिया। '***उदर माँझ सुनु अंडजराया। देखेउँ बहु ब्रह्मांडनिकाया॥***' (८०। ३) उपक्रम है और '***उभय घरी महँ मैं सब देखा***', '***राम उदर देखेउँ जग नाना***' उपसंहार है।

२—'***राम सुजाना। मायापति कृपाल भगवाना***'—(क) इनसे जनाया कि बिलकुल वैसा ही सब चरित मायाप्रेरित होनेपर उदरके भीतरके ब्रह्माण्डवाले अवधमें भी मेरे साथ हुआ। 'सुजान' से जनाया कि मेरे मनमें मोह हुआ और उसे प्रभुने जान लिया। जाननेपर मायाको प्रेरित किया, अतः सुजानके बाद 'मायापति' कहा। मायामें भी साथ न छोड़ा, कृपा बनाये रखी, दुःख न होने दिया, अतः फिर 'कृपाल' कहा है। कौतुकी स्वभाव होनेपर भी भक्तपर कृपाल रहते हैं, यथा—'***प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला।***' (१। १३२। ३) एवं कृपा यह कि मोह होनेसे अन्य जीवोंको अनेक कल्पोंतक जन्म-मरण संसृति-क्लेश होनेपर जो कहीं निवृत्ति होती वह मुझे दो घड़ीमें बिना क्लेशके कर दिया। ऐश्वर्य दिखाया; अतः भगवान् कहा। पहले जो भुजावाला चरित किया, उसमें सर्वत्र प्रभु और उनकी भुजाको देखा था, अतः 'राम' प्रथम कहा क्योंकि वे सबमें रमण करते ही हैं, सर्वत्र हैं।

३—'***करौं बिचार बहोरी***' अर्थात् माया-चरितमें भी जब अवतार होनेपर जन्ममहोत्सव देखने गया तब फिर भी वैसे ही चरित देखे, अतः वे ही विचार बने रहे, बराबर विचार करनेपर भी बोध न होता था। मोहयुक्त होनेसे कुछ निश्चय न होने पाता था। '***करौं बिचार बहोरी***' कहकर '***मोह कलिल ब्यापित मति मोरी***' कहनेका भाव कि बारम्बार विचार करना और सन्देहकी निवृत्ति एवं मनको प्रबोध न होना यही '***मोह ब्यापित मति***' का स्वरूप है। अर्थात् कार्य और कारण दोनों कहे। मिलान कीजिये—'***उर उपजा संदेह बिसेषी।***—' (१। ५०। ५)—'***अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥***' (५१। ३) से '***जैसे जाइ मोह भ्रम भारी।***' (१। ५२। ३) तक पुनः इससे मायाका प्राबल्य दिखाया, यथा—'***लाग न उर उपदेस जदपि कहेउ सिव बार बहु। बोले बिहँसि महेसु हरिमाया बलु जानि जिय॥***' (१। ५१)

श्रीबैजनाथजी—'***करौं बिचार***—' का भाव यह लिखते हैं—जिनके प्रभावसे यह सब रचना देख पड़ी, जिनका ऐसा ऐश्वर्य है वे भगवान् मायापति हैं। वे जीवोंपर कृपा करके माधुर्यलीला करते हैं। वे सुजान हैं, मेरा अज्ञान मिटानेके लिये ही सब कौतुक किया है। अतः प्रभुमें मनुष्यभाव मानना व्यर्थ है, भूल है। इत्यादि बार-बार विचार करता था पर बोध न होता था।

शंका—श्रीरघुनाथजीके उदरमें भुशुण्डिजीको कई कल्प बीत गये; परंतु मुखसे बाहर निकले तो केवल दो घड़ियाँ बीती थीं। यह कैसे सम्भव है?

समाधान—१—कालका मुख्य मान रात-दिन है जो अपने धुरेपर धरतीकी गति है। एक कल्प पार्थिव वर्षोंके मानसे ४ अरब ३२ करोड़ वर्षोंका होता है। वर्ष उस कालको कहते हैं जो पृथ्वी-पिण्डको सूर्यकी एक परिक्रमामें लगता है। भिन्न-भिन्न पिण्डोंके लिये उनके परिक्रमण-भेदसे भिन्न-भिन्न काल-मान हैं।

बृहस्पतिका वर्षमान हमारे पार्थिव वर्षमानके बारह वर्षोंका है। इसी तरह शनिलोकमें हमारे तीस वर्षोंका एक वर्ष होता है। यह छोटे-छोटे पिण्डोंके उदाहरण हैं। अनन्त आकाश-मण्डलमें ऐसे-ऐसे पिण्ड हैं जिनके एक-एक वर्ष हमारे करोड़ों वर्षोंके बराबर हो सकते हैं। साथ ही छोटे पिण्डोंका हिसाब कीजिये तो काल-भेद अत्यन्त बड़ा वा अत्यन्त छोटा दीखता है। एक-एक परमाणुमें विद्युत्कण एक सेकण्डमें एक लाख अस्सी हजार मीलके वेगसे धनकणका परिक्रमण करते हैं। अतः हमारे एक सेकण्डमें विद्युत्कणके लाखों वर्ष बीत सकते हैं। ब्रह्मके लिये कहा है **'अणोरणीयान् महतो महीयान्।'** यदि भगवान्के सूक्ष्म भावपर निगाह दौड़ाते हैं अथवा कागभुशुण्डिके रूपसे भगवान्की सृष्टिमें भ्रमण करते हैं तो हमारी दो घड़ीमें अर्थात् २८८० सेकण्डोंमें परमाणु ब्रह्माण्डके विद्युत्कणोंके (प्रति सेकण्ड केवल दो लाख वर्ष मानकर) लगभग छः अरब वर्ष होते हैं। यदि वैज्ञानिकोंद्वारा अनुभूत विद्युत्कणोंसे भी सूक्ष्म पिण्डोंकी कल्पना करें तो घड़ीमें अनेक कल्पोंका बीतना कोई असम्भव बात नहीं ठहरती। कालकी और देशकी कल्पना सापेक्ष है। इस स्थलपर अधिक विस्तार सम्भव भी नहीं। इसपर पूर्ण दार्शनिक विचारके लिये लेखकप्रणीत 'वैज्ञानिक अद्वैतवादमें कालकी कल्पना' देखिये। जाग्रत्-अवस्थामें भिन्न पिण्डोंके गतिक्रमसे कालमानमें कितना बड़ा अन्तर पड़ता है, यह बात वैज्ञानिक विचारसे स्पष्ट हो जाती है। जाग्रत्से भिन्न स्वप्नावस्थाका कालमान तो अत्यन्त अद्भुत है। स्वप्नमें देखता हूँ कि हिमालय पर्वत है, गङ्गा है जो अवश्य ही अरबों वर्षसे हैं, और मैं स्वयं महीनों यात्रा करता हूँ, अनेक घटनाएँ घटती हैं जिनकी संख्याएँ, भेद, विस्तार आदि बातें बरसोंका अनुमान उत्पन्न करती हैं, परंतु आँख खुली, अवस्था बदली तो मालूम हुआ कि दस मिनटसे अधिक न सोया हूँगा। यह दस मिनट जाग्रत्के हैं, पर स्वप्नावस्थाके अरबों वर्ष बीत गये। अवस्थाभेदसे देश-काल-वस्तुमें भेद प्रतीत होना स्वाभाविक है, क्योंकि देश-काल-वस्तु तीनों सापेक्ष हैं, अतः असत्य और अनित्य हैं। देशातीत, कालातीत, वस्त्वतीत नित्य सत्य सत्ता अपेक्षाकृत नहीं है, अतः उसमें विकार सम्भव नहीं। भुशुण्डिजी *'मनहुँ कलप सत एका'* भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डोंमें घूमते रहे, परंतु वस्तुतः (अर्थात् जाग्रत्-अवस्थामें जिसे व्यवहारमें वास्तविक समझते हैं) दो ही घड़ीका समय लगा। *'मनहुँ'* शब्द भुशुण्डिजीके अवस्थान्तरका, दूसरी अवस्थामें शायद समाधिकी अवस्थामें प्रवेश करनेका पता देता है। इस भिन्न अवस्थामें उन्होंने १०१ कल्प बिताये और जब पूर्वावस्थामें लौटे तो उस अवस्थाके मानसे दो ही घड़ियाँ बीती थीं।* —(गौड़जीकी मानसकी भूमिकासे)

२—इसी तरह *'महाप्रलयहु नास तव नाहीं'* यह जो भुशुण्डिके लिये कहा है, उसको भी समझना चाहिये। सृष्टि और प्रलय दोनों कालकी सीमाके भीतर हैं। परंतु जो अवस्था कालातीत है, उसमें अन्त कहाँ? जन्म-मरण कहाँ? यह अवस्था ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। इसे सालोक्य मुक्ति कह सकते हैं। सगुणोपासक गोलोक और साकेतलोक आदि लोकोंको देश, काल, वस्तुसे परे मानते हैं।—(गौड़जी)

३—मा० शं०—भुशुण्डिजीको मोहवश शतकल्प जान पड़े, यथार्थमें दो ही घड़ीमें यह चरित हुआ। मोह छूटनेपर यथार्थ सूझ पड़ा। वा, मुखके भीतर जो ब्रह्माण्ड थे उनमें जितनी देरमें शतकल्प हुए उतनी देरमें इस ब्रह्माण्डमें दो ही घड़ी हुआ। वा, रघुनाथजीकी मायासे दो घड़ीका शतकल्प हो गया।

४—वि० त्रि०—ढाई घड़ीका एक घंटा होता है। इस हिसाबसे दो घड़ी ४८ मिनटकी होती है। सो वस्तुतः भुशुण्डिजीको रामजीके उदरमें गये ४८ मिनट हुए। पर प्रतीति एक सौ कल्पकी हुई, अर्थात् कालका भी कोई नियम नहीं रह गया। यह परमेश्वरी माया है, जिसमें संकुचित देश-कालमें अपार देश-कालकी प्रतीति होती है, तथा अति विशाल देश-कालकी अति संकुचित प्रतीति होती है।

* रा० प्र०—कोई-कोई 'उभयघरी' को मायाकी प्रबलता कहते हैं। यद्यपि यह कथन मुखसे बाहर निकलनेपरका है तथापि प्रसंगसे इसे वे पहिलेका कहते हैं। कोई कहते हैं कि 'उभयघरी' कहनेकी बान कविकी है।''''''''१— 'उभयघरी अस कौतुक भयऊ। जब लगि काम संभु पहँ गयऊ'॥ २—'मगन ध्यानरस दंड जुग पुनि मन बाहिर कीन्ह।' ३—'उभयघरी महँ दीन्ह मैं सात प्रदच्छिन धाइ।' और कोई कहते हैं कि जब दो घड़ीका यह वृत्तान्त है तो अधिकमें क्या होता?

सि० ति०—'इस कौतुकका रहस्य यह है कि परधाममें जीवोंकी स्वाभाविक स्थितिसे विशेष सुख देनेके लिये श्रीसीतारामजी जगत्‌की रचना कर जीवोंको उनके अनादि कर्मानुसार, अपनी मायासे मोहवश कर देते हैं। जैसे माता बच्चेको शय्यापर शयन करा देती है कि सोकर उठेगा तो भूख लगेगी और फिर दूध पीकर विशेष सुख पावेगा एवं पुष्ट होगा। बच्चे प्राय: दो ही घड़ी सोते हैं, यदि देरी होने लगी तो माता चिन्तित होकर जगानेका यत्न करती है। नित्य धामकी दो ही घड़ीमें यह यहाँके सैकड़ों कल्पका चक्कर लगा लेता है। फिर भगवान् प्रकृतिके द्वारा इसके जाग्रत् होनेकी प्रेरणा करते हैं और यह नाना साधनोंमें प्रवृत्त होता है। ज्ञानोपासना एवं प्रेमकी रीतिसे भगवान्‌की प्राप्तिकी चाह होना भूखसे रोना है। अत्यन्त प्रेम ही क्षुधाका वास्तविक रूप है। इसीसे कहा है—*'पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन।'*, *'रामहि केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा॥'* (अ० १३७); उत्कृष्ट इच्छापर भगवान्‌को पाता है, तो इसे अत्यन्त सुख होता है, फिर वही अवस्था इसकी नित्य रहती है। सदा वैसा ही सुखी रहता है। **'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।'** (छा० ८। ५१। १) कहा ही है। नित्य धाममें पुनः प्राप्त होनेपर इसे इस जगत्‌के व्यापार वहाँकी दो ही घड़ीमें हो जाते हैं।

'भयउँ भ्रमित मन मोह बिसेषा'—विशेष मोहसे जो सैकड़ों कल्प भ्रमण किया, उसके श्रमको समझकर विशेष व्याकुलता हुई, यही प्रेमकी विशेषावस्था है, जो कि—*'नाचत ही निसि दिवस मर्‍यो—'* (वि० ९१), इस पदमें कही गयी है।

नोट—४ *'मन मोह बिसेषा'* का भाव कि मनमें अत्यन्त संदेह हुआ, यही विशेष मोह है, यथा—*'जौं तुम्हरे मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू॥ जैसे जाइ मोह भ्रम भारी।'* (१। ५२। १—३) सतीजीका संदेह परीक्षा लेनेपर लगभग जाता ही रहा, किञ्चित् ही रह गया था, यथा—*'अजहूँ कछु संसउ मन मोरे।'* (१। १०९। ५) और भुशुण्डिजीका मोह परीक्षा लेने एवं ऐश्वर्य देख लेनेपर भी न गया; अतः *'मन मोह बिसेषा'* कहा।

दो०—देखि कृपाल बिकल मोहि बिहँसे तब रघुबीर।
बिहँसत ही मुख बाहेर आएउँ सुनु मतिधीर॥
सोइ लरिकाई मो सन करन लगे पुनि राम।
कोटि भाँति समुझावौं मनु न लहै बिश्राम॥८२॥

अर्थ—तब दयालु श्रीरामजी मुझे व्याकुल देखकर हँस दिये। हे धीरबुद्धि! सुनो। हँसते ही मैं मुखके बाहर आ गया। श्रीरामचन्द्रजी फिर मुझसे वही लड़कपन करने लगे। मैं अनेक प्रकार मनको समझाता था पर मन विश्राम न पाता था अर्थात् उसे बोध न होनेसे शान्ति न मिलती थी॥ ८२॥

नोट—१ (क) *'देखि कृपाल।'* व्याकुल देखकर कृपा की, अतः कृपाल कहा। 'बिहँसना' आद्यन्त पूर्वापर एकरस दिखाया। मुखके भीतरकी लीलाका इसीपर उपक्रम-उपसंहार किया। 'बिहँसे' भी कृपा है, क्योंकि हँसनेपर मुख खुला और श्वासद्वारा ये बाहर आ गये। इसी तरह मार्कण्डेयऋषि जब सब विश्व देख चुके तब श्वासके साथ उदरसे बाहर निकले थे। यथा—भा० १२। ९। ३०—**'विश्वं विपश्य- ञ्छ्वसिताच्छिशोर्वै बहिर्निरस्तो न्यपतल्लयाब्धौ।'** (ख)—*'मतिधीर'* का भाव कि यह मेरे मोहकी कथा आपने सावधान रहकर सुनी और सुननेसे उकताये भी नहीं। यथा—*'श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मतिधीर।'* (५२) ☞ पूर्व काकजीने कहा था कि सावधान होकर सुनो, वह यहाँ चरितार्थ है। पूर्व *'सुनहु सो सावधान हरिजाना।'* (७८। ३) और यहाँ *'सुनु मतिधीर।'* [पुनः, 'मतिधीर' का भाव कि मायारूपी नदीसे धैर्यमें पार उतरना होता है। यथा—*'धीरज धरिय त पाइय पारू।'* (पं०) पुनः, भाव कि आश्चर्य सुननेसे आपकी मति न भ्रमी। अतः आप मतिधीर हैं। (रा० प्र०)]

२ (क) *'सोइ लरिकाई'* अर्थात् *'मोहि सन करहिं बिबिध बिधि क्रीड़ा'* से *'जाउँ समीप गहन पद——'* तक जो कह आये वही। *'सोइ'* और *'करन लगे पुनि'* का भाव कि यही पूर्व की थी, अब वही फिर करते हैं।

(ख) ☞*'सुनु मतिधीर'* यह अन्तिम *'सुनु'* है। इससे यहाँ मायाके प्रसङ्गकी समाप्ति जनायी।

उपक्रम	उपसंहार
मूदेउँ नयन त्रसित जब भएउँ।' (८०। १)	*भएउँ श्रमित मन मोह बिसेषा।'* (८२। ८)
मोहि बिलोकि राम मुसुकाहीं।	*देखि कृपाल बिकल मोहि बिहँसे तब रघुबीर।*
बिहँसत तुरत गएउँ मुख माहीं।' (८०। २)	*बिहँसत ही मुख बाहर आएउँ——।'* (८२)
उदर माँझ सुनु अंडजराया।' (८०। ३)	*सुनु मतिधीर।*
प्राकृत सिसु इव लीला देखि।' (७७)	*'सोइ लरिकाई मो सन करन लगे——' 'देखि——'*
कवन चरित्र करत प्रभु——।' (७७)	*कोटि भाँति समुझावौं मन न लहै बिश्राम*

(ग) मोह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।—*'एतना मन आनत खगराया——' 'तब मैं भागि चलेउँ उरगारी' 'प्रेरित मोह समीर', 'मोह कलिल ब्यापित मति मोरी', 'भएउँ श्रमित मन मोह बिसेषा।'* ऊपर जो *'मन मोह बिसेषा'* कहा, उसीका यहाँ स्वरूप दिखाते हैं कि *'कोटि भाँति समुझावउँ मन न लहइ बिश्राम।'*

वै०—*'कोटि भाँति समुझावौं'* इस तरह कि ये मेरे इष्टदेव ही हैं, स्वामी हैं, भय करनेका कोई प्रयोजन नहीं, जो करते हैं करने दो, इत्यादि कोटि भाँति समझाता था।

पं०—समझाते इस प्रकार थे कि ये पूर्ण ब्रह्म परमात्मा हैं जिनने मुझे अपनी अनन्त शक्ति दिखायी है, पर क्रीड़ा देखकर फिर सोचने लग जाते थे कि क्या ब्रह्माण्डोंका कौतुक मैंने स्वप्नमें तो नहीं देखा, नहीं-नहीं, स्वप्न तो निद्रावस्थामें होता है और यह मनोराज तो जाग्रत्‌का देखा हुआ है—इस प्रकार विकल्पोंके कारण मन स्थिर न हुआ।

नोट—३ *'मनु न लहै बिश्राम'* इति। इससे मानसकार उपदेश देते हैं कि ज्ञानी, भक्तशिरोमणि, रामरहस्यके बड़े ज्ञाता ऐसे भुशुण्डिजीको भी मनमें संदेह होनेपर जब उसकी निवृत्ति वे अपने विशाल बुद्धि-बलसे एवं ऐश्वर्य देखकर भी न कर सके तब साधारण जीव ईश्वरके चरितमें संदेह करके अपने बुद्धि-बलसे उसे निवारण करनेका प्रयत्न करे तो उसकी मूर्खता ही है।—*'चरित रामके सगुन भवानी। तरकि न जाहिं बुद्धि मन बानी॥'* संदेह हुआ कि वह गिरा, यथा—*'अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं॥'* (१। ११९। ६) प्रभु ही कृपा करें तब उनके विषयका मोह दूर हो सकता है अन्यथा नहीं। यह बात सती-मोह-प्रसङ्गसे भी प्रमाणित होती है। अतएव ईश्वरको सर्वशक्तिमान्, असम्भवको भी सम्भव करनेवाला, 'अघटितघटनापटीयसी' जानकर उनके चरित्रोंमें संदेह न करके वरन् यह सोचकर कि उनके चरित सब यथार्थ हैं, हमारी बुद्धिमें नहीं समा सकते, हमें उनका भजन करना चाहिये—*'भजत कृपा करिहहिं रघुराई।'* तब यदि संदेह कुछ होंगे भी तो तुरंत स्वयं ही दूर हो जायँगे। यही उपदेश शिवजी और भुशुण्डिजीने दिया है। यथा—*'अस बिचारि जे तज्ञ बिरागी। रामहिं भजहिं तर्क सब त्यागी॥'* (६। ७२। २) *'अस निज हृदय बिचारि तजु संसय भजु राम पद।'* (बा० ११५), *'अस बिचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय सकल। भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुंदर सुखद॥'* (७। ९०)

☞ बिना रामकृपाके विश्राम नहीं मिल सकता, यथा—*'रामकृपा बिनु सपनेहु जीव न लह बिश्राम।'* (९०) *'कोटि भाँति समुझावौं'* से जनाया कि अपने बुद्धि-बलका भरोसा था, रामकृपाका नहीं, इसीसे *'मनु न लहै बिश्राम।'* आगे जब हार मानकर एकमात्र श्रीरामजीकी गति रह जायगी तब विश्राम होगा।

देखि चरित यह सो प्रभुताई। समुझत देह दसा बिसराई॥ १॥
धरनि परेउँ मुख आव न बाता। त्राहि त्राहि आरत जन त्राता॥ २॥

प्रेमाकुल प्रभु मोहि बिलोकी। निज माया प्रभुता तब रोकी॥ ३॥
कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ। दीनदयाल सकल दुख हरेऊ॥ ४॥

अर्थ—यह बालचरित देखकर और वह प्रभुता समझकर मुझे देहदशा भुला गयी, देहकी सुध-बुध न रह गयी, मैं मूर्च्छित हो गया॥ १॥ 'हे आर्त्तजनके रक्षक! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये'—(ऐसा कहते हुए) मैं पृथ्वीपर गिर पड़ा, मुखमें वचन नहीं आता अर्थात् बोल नहीं निकलता॥ २॥ प्रभुने मुझे प्रेमसे व्याकुल देखकर तब अपनी मायाकी प्रबलता रोकी॥ ३॥ दीनदयाल प्रभुने अपना करकमल मेरे सिरपर रखा और समस्त दुःख हरण कर लिया*॥ ४॥

नोट—१ (क) *'सो प्रभुताई'* अर्थात् जो ऊपर *'बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा।'* (७९। ४) से *'बिहँसत ही मुख बाहेर आयेउ।'* (८२) तक कह आये हैं। 'यह चरित' अर्थात् *'सोइ लरिकाई'* जो *'किलकनि चितवनि भावति मोही।'* (७७। ७) से *'प्राकृत सिसु इव लीला।'* (७७) तकमें कह आये। (ख) *'समुझत देह दसा बिसराई।'* अर्थात् यह समझकर कि जिनके उदरमें असंख्यों ब्रह्माण्ड हैं जिनकी आज्ञा सब ब्रह्माण्डोंके विधि-हरिहर पालन करते हैं, वही प्रभु सुलभ होकर लोकोद्धार-हेतु भक्तोंके आनन्द-हेतु अत्यन्त माधुर्य-लीला करते हैं, ऐसे कृपालु और भक्तवत्सल हैं—यह समझते ही मनमें प्रेम उमगा कि देहसुध भूल गयी। (वै०)

वि० त्रि०—भुशुण्डिजीके कहनेका यह भाव है कि सरकारकी क्रीड़ा ऐसी ही होती है कि देखनेवालेको मोह हो जाता है, आपको रणक्रीड़ा देखकर मोह हो गया और मुझे बालक्रीड़ा देखकर मोह हुआ, पर मुझे तो स्वयं अनुभव करनेका अवसर मिला कि जो ऐसी क्रीड़ा कर रहा है, उसकी महिमाका पारावार नहीं है, उसकी इच्छामात्रसे देशकालकी मर्यादा कहीं रह नहीं जाती, उसके जो भीतर है वही बाहर है, जो बाहर है वही भीतर है। 'यदन्तरं **तद्बाह्यम्, यद्बाह्यं तदन्तरम्।'** यह अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड उसके भीतर मायाके कारण बाहर दिखायी पड़ता है, जिस भाँति स्वप्नका प्रपञ्च सब हमारे भीतर होता है, पर निद्राके कारण बाहर प्रतीत होता है। अतः उस सर्वाश्चर्यमय देवमें सब कुछ सम्भव है, उसकी लीला देखकर उसके स्वरूपको न भूलना चाहिये।

नोट—२ (क) *'धरनि परेउँ मुख आव न बाता'* से शरणमें प्राप्त और भयभीत सूचित किया। यथा—*'तन पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूँदि चरनन्हि सिरु नावा॥ बिसमयवंत देखि महतारी।'* (१। २०२। ५-६) सभीत शरणागतकी रक्षा आपका विरद है, यथा—*'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाई॥'* (५। ४४। ८) (ख) श्रीकौसल्याजीको थोड़ेहीमें मोहका निवारण किया गया और भुशुण्डिजीको बहुत भ्रमाया गया। इस भेदका कारण प्रसङ्गसे ही स्पष्ट हो जाता है। मोहको प्राप्त जीव जबतक अपने पुरुषार्थका अभिमानी रहता है तबतक उसे चक्कर खाना पड़ता है। जब सब ओरसे हारकर वह प्रभुकी शरणका भरोसा करता है तभी वे भ्रमको दूर करते हैं। श्रीकौसल्या अम्बा थोड़ेहीमें विस्मित हो शरण गयीं—*'नयन मूँदि चरनन्हि सिरु नावा।'* और भुशुण्डिजी इतना चक्कर खानेपर भी शीघ्र शरण न हुए वरन् इनका मोह विशेष हो गया। शरण होनेपर प्रभुने तुरंत रक्षा की। दूसरे प्रभुने माताको प्रथम ही अलौकिक विवेक दे रखा था, यथा—*'मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें॥'* (१। १५१), इससे वे तुरंत शरण हुईं। (ग) *'त्राहि त्राहि—'* इतने ही शब्दोंमें बहुत प्रार्थना आ गयी। मोहसे रक्षा कीजिये। मायासे रक्षा कीजिये, आर्त्तजनोंकी रक्षा करना आपका विरद है—*'त्राहि त्राहि आरतिहरन—।'* मैं आर्त्त हूँ, मेरी रक्षा कीजिये। एक बार भी *'त्राहि त्राहि'* कहनेसे आप रक्षा करते हैं, मैं बारंबार कहता हूँ इत्यादि।

३ (क) *'प्रेमाकुल……'* इति। इससे दिखाया कि प्रेम होनेपर ही जीव मायारहित होता है। ☞ इस प्रसंगमें—

---

* 'माया ते प्रबला राम यया मोहवशोऽभवम्। यथा न मोहयेदेव तथा मां त्वं विधेहि भो॥ तदा रामः प्रसन्नात्मा भुशुण्डं मुमुचे प्रभुः। भुशुण्डः पुनरुत्थाय जग्राह चरणौ हरेः॥ मस्तके तु करं तस्य रामो दध्रे दयान्वितः। पुनः पुनस्तु चोत्थाय रामस्य चरणेऽपतत्॥ (सत्योपाख्यान ६६, ५३-५४)

१—मायाका प्रेरित किया जाना कहकर प्रथम मायाके दुःखद न होनेका कारण कहा, फिर मायाका चरित कहा।

२—मायाके दो प्रकारके चरित वर्णन किये।—(क) भुजाका पसारना और उसकी विशालता। (ख) त्रसित होनेपर उदरमें असंख्यों ब्रह्माण्ड और उनमें वह सब सृष्टि भी जो बाहर नित्य देखते थे तथा अवतार और वही बालकेलि आदिका दर्शन।

३—प्रथम चरित देखकर त्रास हुआ पर शरण न हुए, अतः माया न छूटी और भी ऐश्वर्य दिखाया गया। जब शरण हुए तभी अपनाये गये और माया छूटी।

४—मोह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। पहले मनमें ही था, मनसे कर्ममें परिणत हुआ कि प्रभुके सामनेसे भागे। फिर जैसे-जैसे चरित देखते गये तैसे-तैसे बढ़ा।

५—मन, अहंकार, बुद्धि, चित्त अर्थात् चतुष्टय अन्तःकरण क्रमसे मोहग्रस्त दिखाये—*'एतना मन आनत'*, *'तब मैं भागि चलेउँ'* यह अहंकार, *'मोहकलिल ब्यापित मति मोरी'* और *'कोटि भाँति समुझावौं——'* यह चित्त (चित्तको चेतावनी दी जाती है, यथा—*'अब चित चेतु चित्रकूटहि चलु।'* समुझना धर्मसे चित्त लिया)।

६—इस प्रसङ्गमें प्रारम्भसे समाप्तितक चार बार गरुड़जीसे सुननेको कहा है।

७—पहले *'गहन कहँ भुजा पसारी'*—वाले चरितसे दिखाया कि हमसे भागकर तुम कहीं नहीं जा सकते और दूसरेमें अपना ऐश्वर्य दिखाया कि शिव-विरंचि आदि सब हमारी ही मायाके भीतर हैं, हम ही सबके स्वामी हैं।

८—मोह होनेपर ज्ञान बना रहा कि हमें मोह हो गया है और उपासना भी दृढ़ बनी रही। इसीसे उदरमें ब्रह्माण्डोंमें घूमते समय और फिर उदरसे निकलनेपर भी 'विचार करना' कहा *'कोटि भाँति समुझावौं——'* *'करौं बिचार बहोरि।——'*

९—ईश्वर-विषयक मोह बुद्धि-बलसे तथा ऐश्वर्य देखनेसे भी निवृत्त नहीं हो सकता, प्रभुकी कृपासे शरण होनेसे ही निवृत्त होता है।

रा० शं०—१ जब प्रभु अपनी मायाको रोकते हैं तभी वह रुकती है, यथा—*'निज माया की प्रबलता करषि कृपानिधि लीन्ह'*, *'जब हरि माया दूर निवारी।'* २—*'कर सरोज'* धरनेके बाद दुःखका हरना कहा। यह कर-सरोजका प्रभाव है, यथा—*'सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटत ताप पाप माया'* इति। (विनय०)

कीन्ह राम मोहि बिगत बिमोहा। सेवक सुखद कृपा संदोहा॥५॥
प्रभुता प्रथम बिचारि बिचारी। मन महँ होइ हरष अति भारी॥६॥
भगतबछलता प्रभु कै देखी। उपजी मम उर प्रीति बिसेषी॥७॥
सजल नयन पुलकित कर जोरी। कीन्हिउँ बहु बिधि बिनय बहोरी॥८॥

अर्थ—सेवकको सुख देनेवाले और कृपासंदोह रामचन्द्रजीने मुझे विमोहरहित कर दिया॥५॥ पहलेवाली प्रभुता विचार-विचारकर मनमें अत्यन्त भारी आनन्द होने लगा (एवं अब भी होता है)॥६॥ प्रभुका भक्तवात्सल्य देखकर मेरे हृदयमें बहुत प्रीति उत्पन्न हुई॥७॥ सजल नेत्र और पुलकित हो हाथ जोड़कर फिर मैंने बहुत प्रकारसे विनती की*॥८॥

नोट—१ (क) *'बिगत बिमोहा'* कहा क्योंकि विशेष मोह था, यथा—*'भएउँ भ्रमित मन मोह बिसेषा'*, *'कोटि भाँति समुझावौं मनु न लहै बिश्राम।'* वह सब मोह दूर कर दिया। (ख)—*'सेवक सुखद——'* इति। भारी मोह दूर होनेसे सुख होता है, यथा—*'मिटा मोह सरदातप भारी।——सुखी भइउँ प्रभु चरन प्रसादा।'* (१।१२०) *'बिगत*

---

* सत्योपाख्यानमें गरुड़से पीड़ित किये जानेपर भुशुण्डिने हताश होकर स्तुति की है तब प्रभुने सिरपर हाथ रखा। उसके बाद भुशुण्डिजीने वरदान माँगा है। यहाँ गरुड़से मारे जानेकी कथा नहीं है; क्योंकि वह कथा भक्त कविके हृदयको न भा सकती थी। स्तुति श्लोकोंमें है और बहुत प्रकारसे की गयी है। वह सब यहाँ 'बहु बिधि' से जना दी गयी है।